श्रीरामकृष्ण-विवेकानंद भावधारा की एकमात्र हिंदी मासिकी

वर्ष–११ जून-१९९२ अंक–६

रामकृष्ण निलयम्, जयप्रकाश नगर, छपरा–८४१ ३०१ (बिहार)

विवेक शिखा के आजीवन सदस्य

९१. श्रीमती कमला घोष —इलाहाबाद
९२. श्री एम. डी. शर्मा —अहमदाबाद
९३. श्रीमती प्रभा भार्गव—बीकानेर (राजस्थान)
९४. श्री शशिकांत मिश्र—नारायणपुर (मध्य प्रदेश)
९५. श्री के० सी० सर्राफ—बम्बई
९६. श्री ए० के० चटर्जी, आइ. ए. एस.—पटना
९७ सचिव, थियोसोफिकल लॉज—छपरा (बिहार)
९८. श्री सुभाष वासुदेव—लुमडिंग (आसाम)
९९. श्री दिलीप देसाई, बरोदा (गुजरात)
१००. श्रीरामकृष्ण आश्रम—इन्दौर (म० प्र०)
१०१. सारदापीठ विद्यालय - इन्दौर (म० प्र०)
१०२. डॉ० ओमप्रकाश वर्मा—रायपुर (म० प्र०)
१०३. विवेकानन्द विद्यापीठ—भोपाल (म० प्र०)
१०४. रामकृष्ण मठ—जामतारा (बिहार)
१०५. श्री सुनील खण्डेलवाल—रायपुर (मध्य प्रदेश)
१०६. श्री बसन्त लाल गुप्ता—नागपुर (महाराष्ट्र)
१०७. श्री जयेश ब्रह्मभट्ट—पुणे (महाराष्ट्र)
१०८. श्री नरेन्द्र कुमार टाक—अजमेर (राजस्थान)
१०९. श्री महन्त युक्तिरामजी—जोधपुर (राजस्थान)
११०. श्री राय मनेन्द्र प्रसाद—जमशेदपुर (बिहार)
१११. कुमारी उषा हेगड़े—पुणे (महाराष्ट्र)
११२. श्री विनय प्रकाश—पुणे (महाराष्ट्र)
११३. डॉ० बी० सी० सिन्हा—रीवाँ (मध्य प्रदेश)
११४. डॉ० एच० पी० सिंह—रीवाँ (मध्य प्रदेश)
११५. मानस समिति, लुमडिंग (आसाम)
११६. श्रीरामचन्द्र गुप्त, लुमडिंग (आसाम)
११७. श्री चन्द्रकान्त स० नागपुरे (नागपुर)
११८. श्री अच्छे लाल श्रीवास्तव (उ० प्र०)
११९. संत जगदम्बिका (प्रयाग)
१२०. श्री अजय बलदवा, जयपुर (आसाम)
१२१. श्री बी० एस० दुबे, पुणे (महाराष्ट्र)
१२२. श्री पालीराम शर्मा, लुमडिंग (आसाम)
१२३. श्रीमती चन्द्रिका कालरा (बम्बई)
१२४ श्रीरामकृष्ण आश्रम, श्रीनगर (कश्मीर)
१२५. श्रीमती छवि सिंह, गाजीपुर (उ० प्र०)

इस अंक में

		पृष्ठ
१. श्री रामकृष्ण ने कहा है		१
२. श्रीरामकृष्ण के प्रिय भजन		२
३ नायमात्मा बलहीनेनलभ्य	स्वामी ब्रह्मेशानन्द	३
४. निखिलमातृ हृदय सागर मंथन-सुधा-मूर्ति	स्वामी पूर्णात्मानन्द	१०
५. स्वामी रामानन्द और संत कबीर	गंगाशरण दास	१५
६. श्रीरामकृष्णदेव के सम्बन्ध में मेरे संस्मरण	भवतारिणी	१७
७. स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण	स्वामी सदाशिवानन्द	२१
८. विवेक चूड़ामणि	स्वामी वेदान्तानन्द	२५
९. खुदा का दरबार	स्वामी विवेकानन्द	३०

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत
उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किए बिना विश्राम मत लो

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष - ११ | १९९२—जून | अंक—६

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल 'विवेक शिखा'॥

संपादक :
डॉ० केदारनाथ लाभ

संपादकीय कार्यालय
रामकृष्ण निलयम्
जयप्रकाश नगर,
छपरा—८४१३०१
(बिहार)
फोन : ०६१५२-२६३९

सहयोग राशि

आजीवन सदस्य—	५०० रु०
वार्षिक—	३० रु०
रजिस्टर्ड डाक से—	४५ रु०
एक प्रति—	४ रु०

रचनाएँ एवं सहयोग-राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

(१)

जो हविष्यान्न भोजन करता है, पर ईश्वर की प्राप्ति नहीं करना चाहता, उसका हविष्यान्न गोमांस के तुल्य है। और जो गोमांस खाता है पर ईश्वर की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है उसके लिए गोमांस भी हविष्यान्न के समान होता है।

(२)

जो कम उम्र में विषय सुख भोगने के पहले ही संसार को त्यागकर साधु बन जाते हैं, वे स्त्रियों को देखकर उत्तेजित नहीं होते, पर जो अधिक उम्र में, घर गृहस्थी का सुख भोग चुकने के बाद गेरुआ पहनकर साधु बनते हैं, उनमें कई वर्ष संयम पालने के बावजूद भोग के पूर्व संस्कार जाग उठने की सम्भावना रहती है।

(३)

ठीक मृत्यु के समय मनुष्य जो कुछ सोचता है उसी के अनुसार उसका अगला जन्म होता है; इसीलिए साधना की अत्यन्त आवश्यकता है। निरन्तर अभ्यास करते हुए जब मन सब तरह की सांसारिक चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है तो उसमें सब समय केवल ईश्वर का ही चिन्तन होने लगता है, फिर तो मृत्यु के समय भी वह नहीं छूटता।

(४)

मायापाश में बद्ध आत्मा जीव है, पाशमुक्त आत्मा ही 'शिव' (ईश्वर) है।

मूल बँगला भजन

(धुन—रामप्रसादी : ताल—दादरा)

मन कि तत्त्व करो तारे, जेन उन्मत, आँधार धरे।
से जे भावेर विषय भाव व्यतीत, अभावे कि धरते पारें? ॥ध्रु॥
अग्रे शशी वशीभूत, करो तव शक्तिसारे।
(ओरे) कोठार भितर चोर, कुठरी, भोर होले से लुकाबे रे॥ १ ॥
षड्दर्शने ना पाय दर्शन, आगम निगम तन्त्र सारे।
से जे भक्ति रसेर रसिक, सदानन्दे विराज करे पुरे ॥ २ ॥
जे भाव लागि परमयोगी, योग करे युग-युगान्तरे।
होले भावेर उदय लय से जेमन, लोहाके चुम्बके धरे ॥ ३ ॥
'प्रसाद' बोले—मातृभावे, आमि तत्त्व करि जारे।
सेटा चातरे कि भांगबो हाँड़ि, बोझ ना रे मन ठारे ठोरे ॥ ४ ॥

(श्री राम प्रसाद)

भावानुवाद

मना उसे तू क्या खोजे रे

(राग—झिंझोटी : ताल—कहरवा)

मना उसे तू क्या खोजे रे, पागल ! घोर अँधेरे में रे।
भावविषय वह, बिना भाव के अभाव कैसे पकड़ सके रे ॥ध्रु॥
पहले शशि को वशीभूत कर, अपनी सब शक्ति लगाके रे।
कोठी भीतर बना चोरघर, होते ही भोर, जा छिपे रे॥ १ ॥
षड्दर्शन ना पावें दर्शन, निगमागम-तंत्र वृथा सारे।
रसिक भक्तिरस का वह राजे, सदानंद से पुर ही में रे॥ २ ॥
जिस भाव के लिए योगीजन, युग-युग योगाभ्यास करें रे।
होकर उदित भाव वह खींचे, लोहे को चुंबक जैसे रे॥ ३ ॥
कहे 'प्रसाद' खोजता हूँ मैं, जिसे सदा मातृभाव से रे।
उसे बताऊँ पीट ढिंढोरा ? ले पहचान इशारे से रे॥ ४ ॥

—सारदातनय

विवेक-वाणी

स्वामी विवेकानन्द

पुराने जमाने में हमारी जाति ने बहुत बड़े-बड़े काम किये हैं, और यदि हम उनसे भी बड़े काम न कर सकें, तो एक साथ ही शान्तिपूर्वक डूब मरने में हमें सन्तोष होगा। देशभक्त बनो—जिस जाति ने अतीत में हमारे लिए इतने बड़े-बड़े काम किये हैं, उसे प्राणों से भी अधिक प्यारी समझो। हे स्वदेश वासियों ! मैं संसार के अन्यान्य राष्ट्रों के साथ अपने राष्ट्र की जितनी ही अधिक तुलना करता हूँ, उतना ही अधिक तुम लोगों के प्रति मेरा प्यार बढ़ता जाता है। तुम लोग शुद्ध, शान्त और सत्स्वभाव हो, और तुम्हीं लोग सदा अत्याचारों से पीड़ित रहते आये हो—इस मायामय जड़ जगत् की पहेली ही कुछ ऐसी है। जो हो, तुम इसकी परवाह मत करो। अन्त में आत्मा की ही जय अवश्य होगी। इस बीच आओ हम काम में संलग्न हो जाँय। केवल देश की निन्दा करने से काम नहीं चलने का। हमारी इस परम पवित्र मातृभूमि के काल-जर्जर कर्मजीर्ण आचारों और प्रथाओं की निन्दा मत करो। एकदम अंधविश्वासपूर्ण और अतार्किक प्रथाओं के विरुद्ध भी एक शब्द मत कहो, क्योंकि उनके द्वारा भी अतीत में हमारी जाति और देश का कुछ न कुछ उपकार अवश्य हुआ है। सदा याद रखना कि हमारी सामाजिक प्रथाओं के उद्देश्य ऐसे महान् हैं, जैसे संसार के किसी और देश की प्रथाओं के नहीं हैं। मैंने संसार में प्रायः सर्वत्र जाति-पाँति का भेद-भाव देखा है, पर उद्देश्य ऐसा महिमामय नहीं है। अतएव, जब जातिभेद का होना अनिवार्य है, तब उसे धन पर खड़ा करने की अपेक्षा पवित्रता और आत्मत्याग के ऊपर खड़ा करना कहीं अच्छा है। इसलिए निन्दा के शब्दों का उच्चारण एकदम छोड़ दो। तुम्हारा मुँह बन्द हो और हृदय खुल जाय। इस देश और सारे जगत् का उद्धार करो। तुम लोगों में से प्रत्येक को यह सोचना होगा कि सारा भार तुम्हारे ही ऊपर हैं। वेदान्त का आलोक घर-घर ले जाओ, प्रत्येक जीवात्मा में जो ईश्वरत्व अन्तर्निहित है, उसे जगाओ। तब तुम्हारी सफलता का परिमाण जो भी हो, तुम्हें इस बात का सन्तोष होगा कि तुमने एक महान् उद्देश्य की सिद्धि में ही अपना जीवन बिताया है, कर्म किया है और प्राण उत्सर्ग किया है। जैसे भी हो, महत्-कार्य की सिद्धि होने पर मानव जाति का दोनों लोकों में कल्याण होगा।

—(वि० सा० ५. ६५)

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः

स्वामी ब्रह्मेशानन्द
रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम
वाराणसी

अमेरिका तथा यूरोप की आध्यात्मिक विजय के बाद स्वामी विवेकानन्द जब भारत लौटे तो उनका दक्षिण भारत में भव्य स्वागत हुआ। उनके तेजस्वी व्यक्तित्व एवं भारत के पुनरुत्थान के संदेश से प्रभावित हो कई युवक स्वामीजी के प्रति आकृष्ट हुए। दक्षिणात्य में इसी तरह के कुछ युवक स्वामीजी के पद प्रान्तों में उपस्थित हुए। उन्होंने कहा कि वे स्वामीजी के द्वारा प्रदर्शित आदर्श के लिए अपना जीवन न्यौछावर करना चाहते हैं। स्वामीजी ने उन युवकों को ऊपर से नीचे तक देखा; दुर्बल, तेजहीन, बलहीन रोगी जैसे उन युवकों को वे कुछ क्षण देखते रहे। फिर उन्होंने उनसे पूछा कि क्या वे उनके सभी आदेशों का पालन कर सकेंगे? क्या उनमें किसी की हत्या करने का साहस है? क्या वे चोरी कर सकते हैं? यह सुनकर वे युवक दंग रह गये। उनमें एक ने धीरे-धीरे कहा, हम तो ईश्वरदर्शन करना, तथा जीव को शिव के रूप में सेवा करना चाहते हैं।" इसके उत्तर में स्वामीजी गरज उठे, "हाँ मैं भी यही चाहता हूँ, पर बोलो, क्या तुममें डाका डालने का साहस है? क्या तुम समझते हो कि भगवत् साक्षात्कार डाका डालने या चोरी करने से आसान है? तुम्हारे दुर्बल शरीर, तेजहीन चेहरे, बलहीन भुजाओं को देखकर तो ऐसा लगता है, कि तुममें कोई शक्ति ही नहीं है। तुम घोर तमोगुण में डूबे हुए हो। भगवत्-दर्शन के लिए भी साहस, बल, धैर्य, उत्साह की आवश्यकता होती है, लेकिन मैं तुममें इसका नितान्त अभाव पाता हूँ। पहले अपने शरीर को बलिष्ठ बनाओ, उसके बाद ही तुम आध्यात्मिक जीवन के अधिकारी हो सकोगे।

"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः"—आत्मा की उपलब्धि बलहीन व्यक्ति नहीं कर सकता। उपनिषद् का यह प्रसिद्ध मन्त्र आध्यात्मिक जीवन के लिए बल की आवश्यकता को स्पष्ट रूप से प्रकट करता है। श्रीमद्भगवद्गीता के प्रारम्भ में ही भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को दुर्बलता त्यागने का आह्वान करते हैं:

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदय दौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥

आध्यात्मिक जीवन में बल की अनिवार्यता होते हुए भी जितना महत्व इसे स्वामी विवेकानन्द ने प्रदान किया है, उतना सम्भवतः और किसी भी सन्त महात्मा ने नहीं किया है। स्वामीजी के साहित्य से परिचित पाठक इससे भलीभांति परिचित हैं, फिर भी स्वामीजी की कुछ उक्तियों को यहाँ प्रस्तुत किया जा सकता है।

'बल ही जीवन है, और दुर्बलता मृत्यु। बल ही परम आनन्द है, शाश्वत और अमर जीवन है। दुर्बलता निरन्तर भार स्वरूप है, दुःख स्वरूप है।"

दुःख का एक मात्र कारण है दुर्बलता। हम झूठ बोलते हैं, चोरी करते है, हत्या करते हैं इस तरह के अपराध करते हैं—क्यों? इसलिए कि हम दुर्बल हैं।"

"खड़े होओ, साहसी बनो. शक्तिमान होओ। सारा उत्तरदायित्व अपने कंधों पर लो और जान लो कि तुम्हीं अपने भाग्य के विधाता हो।"

"आज हमारे देश को जिस चीज की आवश्यकता है, वह है लोहे की मांसपेशियाँ और फौलाद के स्नायु—प्रचण्ड इच्छाशक्ति, जिसका अवरोध दुनियाँ की कोई ताकत न कर सके।"

'भय ही पतन और पाप का निश्चित कारण है: भय से ही दुःख कष्ट होता है, भय से ही मृत्यु आती है, और भय से ही सारी बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं। इस भय का कारण क्या है?... अपने स्वरूप के सम्बन्ध में हमारा अज्ञान।"

'तुम्हीं में तो सारी शक्ति निहित है। ऐ महान्, अपनी सर्वशक्तिमान प्रकृति का उद्बुद्ध करो। देखोगे यह सारी दुनियाँ तुम्हारे पैरों पर लोटने लगेगी।"

शारीरिक बल:

स्वामी विवेकानन्द के इन तेजस्वी उद्गारों ने शारीरिक बल के साथ ही साथ मानसिक बल, सहिष्णुता, साहस, आत्म विश्वास आदि सद्गुणों को भी महत्व दिया गया है। आपाततः यह प्रतीत होता है कि ध्यान, जप, भगवत्-चिन्तन आदि के लिए बलवान शरीर की आवश्यकता नहीं है तथा चित्त को एकाग्र करने की क्षमता ही पर्याप्त है। लेकिन वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। शरीर भले ही एक पहलवान की देह की तरह बलशाली न हो, लेकिन स्वस्थ शरीर साधना के लिए नितान्त आवश्यक है। अगर देह इतनी कोमल बलहीन हो कि दैनन्दिन जीवन के क्रिया कलापों से ही थकान का अनुभव होने लगे, अगर थोड़ी देर तक एक आसन में बैठने पर ही किसी को कमर, पैर अथवा पीठ में दर्द होने लग जाय तो वह दीर्घ साधना के तनाव को कैसे सहन कर सकेगा? नियमित योगासन, व्यायाम खेलकूद आदि से सधे एवं सुगठित शरीर की आहार एवं विश्राम की आवश्यकताएँ भी कम रहती हैं। अगर कभी अभ्यस्त आहार न मिले, किसी दिन अधिक काम करना पड़ जाए अथवा समय पर भोजन ही प्राप्त न हो, तो भी शरीर में इतनी सामर्थ्य तो होनी चाहिए कि वह इन छोटी मोटी असुविधाओं को झेलकर मन को भगवत्-चिन्तन से विमुख न करे। एक स्वस्थ शरीर साधक की एक बड़ी संपदा है। शास्त्रों में भी शरीर को साधना का सर्व प्रथम सहायक बताया गया है, "शरीरमाद्यं खलु धर्म-साधनम्।" जिस प्रकार एक सधे हुए घोड़े पर सवारी करने में सवार को सुख मिलता है, उसी प्रकार एक स्वस्थ शरीर रूपी यंत्र को लेकर साधन पथ पर अग्रसर होना सुखकर है। अतः साधक को सदा अपने शरीर को स्वस्थ रखना चाहिए। नियमित हल्का व्यायाम, ऐसा व्यायाम जो शरीर को चुस्त व तन्दुरुस्त रखे आवश्यक है। कुछ योगासन भी शरीर को तन्दुरुस्त रखते हैं।

युक्ताहार:

भोजन के विषय में भी साधक को सावधान रहना चाहिए। सभी प्रकार की अति का वर्जन आवश्यक है। गीता में संक्षेप में साधक के स्वास्थ्य के नियमों का उल्लेख इस प्रकार है:

नात्यश्नतस्तु योगोऽति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥
युक्ताहार बिहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्त स्वभाव बोधस्व योगो भवति दुःखहा॥

साधक को कभी भी अधिक पेट भर भोजन नहीं करना चाहिए। दिन के समय वह भले ही पेट भर भोजन करे, पर रात को सदा हल्का भोजन करना चाहिए। बहुत से साधक तो दिन में एक ही बार भोजन करते हैं। धीरे-धीरे रात्रि-भोजन कम करते हैं और अन्त में पूरी तरह त्याग देते हैं। प्रारम्भ में उन्हें कुछ शारीरिक दुर्बलता मालूम होने पर भी बाद में शरीर कम आहार का

अभ्यस्त हो जाता है। बहुत से लोगों की यह भ्रान्त धारणा है कि अधिक खाने से शरीर स्वस्थ और बलवान होता है। वस्तुतः सत्य इसके विलकुल विपरीत है। जितनी अस्वस्थता एवं रोग अधिक आहार से होते हैं, उतने कम आहार से नहीं। प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक आहार की मात्रा भिन्न-भिन्न होती है। साधक को अपनी आवश्यकता को जानकर उसके अनुरूप आहार लेना चाहिए।

आहार की मात्रा के साथ ही, उसका प्रकार भी महत्वपूर्ण है। गरिष्ठ, कठिनाई से पचने वाला तथा तमोगुण की वृद्धि करने वाला आहार नहीं लेना चाहिए। गीता में सात्त्विक, राजसिक एवं तामसिक आहारों का वर्णन हैं। हर सम्भव सात्विक आहार का सेवन करना चाहिए।

योगियों की यह मान्यता है कि सबल स्नायु तंत्र, हड्डियाँ यथा अधिक वायु ग्रहण करने में समर्थ फेफड़ों के विना उच्च कोटि के ध्यान तथा समाधि का अभ्यास नहीं किया जा सकता। शरीर की विशिष्ट प्रकार की बनावट योग के उच्चतर सोपानों पर आरोहण में सहायक होती है। इसे जैन योग की पारिभाषिक भाषा में उत्तम-संहनन कहा गया है। यह कुछ हद तक तो जन्म से प्राप्त होता है और कुछ मात्रा में आहार प्राणायाम तथा ब्रह्मचर्य पर निर्भर करता है। ब्रह्मचर्य के द्वारा मानसिक शक्ति का तो संचय होता ही है,उससे शरीर के स्नायुतंत्रों को विशेष शक्ति प्राप्त होती है, जो ध्यान के लिए परमावश्यक है। मस्तिष्क को बलवान बनाने, तथा उसे ठंडा रखने के लिए ब्रह्मचर्य अतिआवश्यक है। जो लोग ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करते उनके मस्तिष्क में लम्बे समय तक ध्यान करने का सामर्थ्य नहीं रहता।

एक ओर जहाँ स्वास्थ्य के इन सामान्य नियमों का पालन शारीरिक बल के लिए आवश्यक है, वहीं इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हमारा ध्यान कहीं शरीर को स्वस्थ एवं सबल रखने में ही सदा न लगा रहे। छोटी मोटी शारीरिक असुविधाओं की उपेक्षा करना ही श्रेयस्कर है। स्वस्थ शरीर का एक लक्षण यह है कि मन शरीर की ओर नहीं जाता, देह का ध्यान ही नहीं रहता। साधना का एक उद्देश्य देहात्म बोध कम करना है। कहीं ऐसा न हो कि इसके विपरीत साधक का देहात्म बोध और अधिक हो जाए। शरीर के छोटे मोटे कष्टों को बड़ा समझना, तथा उन्हीं का सदा चिन्तन करते रहना एक प्रकार का मानसिक रोग विशेष है। यही कारण है कि शंकराचार्य शरीरपोषण की निन्दा करते हुए कहते हैं कि जो व्यक्ति शरीर पोषणार्थी होता हुआ मोक्ष पाना चाहता है, वह मानो उस व्यक्ति की तरह है जो मगर को लकड़ी समझकर उसकी सहायता से नदी पार होना चाहता है। सन्त साहित्य का अध्ययन करने पर हम पाते हैं कि अधिकांश सन्तों ने शरीर की उपेक्षा ही की है, उसका पोषण नहीं।

मानसिक बल:

इन सन्तों के पास शारीरिक बल से कहीं अधिक महत्व पूर्ण, मानसिक बल था। दृढ़ निश्चय, धैर्य एवं सहिष्णुता के द्वारा वे अनेक शारीरिक कष्टों को सहन कर अपने मन को साधने में समर्थ हुए थे। एक जैन सन्त ने जब संसार त्याग कर संन्यास का कठोर मार्ग स्वीकार किया था, तब वे अनेक सुख सुविधाओं से युक्त एक धनी परिवार के १५ वर्षीय युवक थे। वे शारीरिक कष्ट सहने में इतने अनभ्यस्त थे कि पहले दिन कन्धे पर अपने कपड़ों और दो चार पुस्तकों के भार वाली झोली को उठाकर दो चार मील चलने पर उनके पैरों एवं कन्धों में छाले पड़ गये तथा अन्य संन्यासियों को उनके पैर दबाने पड़े। लेकिन वे निराश नहीं हुए और दृढ़ संकल्प की सहायता से सभी कठिनाइयों को सहन करते हुए अन्त में संघ के उच्चतम आचार्य पद पर आसीन हुए।

प्रबल इच्छाशक्ति :

प्रबल इच्छाशक्ति वस्तुतः साधक का सबसे बड़ा बल है, जिसकी सहायता से वह बड़ी से बड़ी कठिनाइयों को पार कर सकता है। आध्यात्मिक पथ को छुरे की धार की तरह तीक्ष्ण एवं कठिन बताया गया है। इस पर चलने के लिए प्रबल इच्छा शक्ति आवश्यक है जिसका अवरोध दुनियाँ की कोई शक्ति न कर सके। यों तो इच्छाशक्ति सभी में विद्यमान रहती है तथा सांसारिक कार्यों में भी वही सफलता की कुंजी भी है, लेकिन उसका उपयोग, आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए करने पर वह परम पद तक पहुँचती है। तप व्रत, नियम पालन अनुष्ठानादि के द्वारा इच्छाशक्ति की वृद्धि होती है। यदि चित्त वृत्ति निरोध में, सत्य अहिंसा आदि उच्च आदर्शों का पालन करने में हम असफल होवें, तो भी हमें हिम्मत नहीं हारनी चाहिए, तथा पुनः उठकर उनको जीवन में उतारने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। स्वामी ब्रह्मानन्दजी कहा करते थे कि एक नवजात बछड़ा जब सर्वप्रथम अपने पैरों पर खड़े होने का प्रयत्न करता है तो प्रारंभ में वह गिर पड़ता है। बार-बार गिरने पर भी वह उठने का प्रयत्न करता रहता है और अन्त में अपने पैरों पर खड़ा ही नहीं होता, दौड़ने भी लगता है। एक चींटी को किसी दुर्गम मार्ग से भारी आहार का टुकड़ा ले जाते हुए देखिये। वह बार-बार असफल होते हुए भी अन्त तक प्रयत्न करना नहीं छोड़ती और अन्त में सफल होती है। आध्यात्मिक जीवन बाधाओं से पूर्ण है लेकिन ये बाधाएँ एक महान शुभ भी साधती हैं। इनसे लड़ने, जूझने से साधक की इच्छाशक्ति की वृद्धि होती है। ये बाधाएं मानों साधक रूपी पहलवान को सबल सक्षम बनाने के लिए परमात्मा द्वारा जानबूझकर पैदा की गयी परीक्षाएँ या व्यायाम विशेष हैं। अतः साधक को कठिनाइयों से घबराना नहीं चाहिए। यही नहीं उसे उन्हें सहर्ष स्वीकार करना चाहिए। कुछ लोग तो जानबूझकर ऐसा परिवेश चुनते हैं जो कठिनाइयों से पूर्ण हो, जिससे मन को सतत संघर्ष की आदत बनी रहे, और इच्छाशक्ति का उपयोग करने के अवसर प्राप्त होते रहें।

आत्म विश्वास :

आत्मविश्वास मानसिक बल का लक्षण है जिस पर स्वामी विवेकानन्द ने बार-बार बल दिया है। "हम ही अपने भाग्य विधाता हैं, हममें समग्र शक्ति निहित है तथा हम आध्यात्मिक जीवन में अपना लक्ष्य प्राप्त कर सकते हैं" इस तरह दृढ़ आत्म-विश्वास के बिना किसी भी प्रकार की प्रगति सम्भव नहीं है। सर्वप्रथम स्वयं को अनन्त संभावनाओं के प्रति इस प्रकार का दृढ़ विश्वास होना चाहिए। इसके साथ ही साथ अपने आध्यात्मिक आदर्श को दृढ़ता से पकड़े रहना चाहिए। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि किसी एक आदर्श को ले लो, और सारा जीवन उसके अनुरूप बिता दो। कोई देशभक्ति का कोई सेवा का, कोई सत्य अथवा अहिंसा, आदि किसी भी एक आदर्श को स्वीकार कर सकता है। लेकिन एक बार स्वीकार करने के बाद अन्त तक उसे पकड़े रहना चाहिए। विचारों के विभ्रम के आधुनिक युग में सैकड़ों आदर्श हमारे मस्तिष्क पर नित्यप्रति आघात करते हैं। ऐसे में आदर्श एवं लक्ष्य में परिवर्तन की बहुत बड़ी संभावना रहती है। जीवन की विभिन्न प्रकार की समस्याओं से जूझते हुए, साधना की कठिनाइयों से लड़ते हुए एवं बाह्य जगत की परस्पर विरोधी विचारधाराओं के बीच भी हमें एक निर्धारित पथ को नित्य प्रति पकड़े रहना चाहिए। एक पथ एवं लक्ष्य पर बने रहना मानसिक शक्ति का लक्षण है। बहुत से साधक साधना पथ पर बड़े उत्साह से अग्रसर होना प्रारंभ करते हैं, लेकिन कुछ ही दिनों बाद उनका वह सारा उत्साह शान्त हो जाता है तथा वे अपने ही द्वारा पैदा की गयी बाधाओं के सामने हार मान लेते हैं।

स्वामी विवेकानन्द इसीलिए बार बार धर्य एवं अध्यवसाय की आवश्यकता पर बल दिया करते थे।

निर्भयता :

निर्भयता मानसिक शक्ति का एक निश्चित लक्षण है। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार भय ही पाप तथा पतन का कारण है, तथा अपने दिव्य स्वरूप का अज्ञान ही इसका मुख्य कारण है। उपनिषद में कहा गया है, "द्वितीया द्वै भयं-भवति" अर्थात जहाँ मैं—तुम का बोध है, जहाँ द्वैत है वही भय होता है। अद्वैत में भय नहीं होता। जनक को याज्ञवल्क्य ने कहा था : 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि "अर्थात् हे जनक, तुमने (ज्ञान प्राप्ति के बाद) अभय को प्राप्त किया है। स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे कि समग्र उपनिषदों का मुख्य भाव है "अभीः" अर्थात् निर्भयता। सास्त्रोक्त पूर्ण निर्भयता तो ब्रह्मज्ञान के बाद ही प्राप्त हो सकती है, लेकिन हम जिस मात्रा में अपनी आत्मा के प्रकाश का तथा दूसरों में परमात्मा का, अनुभव करने लगते हैं; उतनी मात्रा में हम क्रमशः निर्भयता को प्राप्त होते हैं।

श्रीरामकृष्ण साधन रूप निर्भयता का उल्लेख करते हुए कहते हैं : "लज्जा घृणा भय तीन थाकते नय।" अर्थात् लज्जा घृणा और भय के रहते परमात्म-वस्तु-लाभ नहीं हो सकता। और ये भय कई प्रकार के हो सकते हैं। साधन पथ की कठिनाइयों बाधाओं, लक्ष्य प्राप्त न होने की सम्भावना आदि का भय कई ढीले ढाले साधकों को इस पथ पर अग्रसर नहीं होने देता। भविष्य की अनिश्चितता भय को पैदा करती है। कुछ लोग दूसरों से डरते हैं। वे सोचते हैं, कि अगर मैं साधना करूँ तो लोग क्या कहेंगे। वे मेरा मजाक उड़ायेंगे, इत्यादि। श्रीरामकृष्ण अपने भक्तों को हरिकीर्त्तन में ताली बजा बजाकर हरिनामोच्चारण करने के लिए प्रोत्साहित करते हुए कहते थे कि अमुक बाबू हरिनाम करते समय नाचते हैं, ऐसा लोग यदि कहे तो कहने दो तुम लज्जा, भय त्याग कर भगवन्नाम करो। इस प्रकार के भय भी लक्ष्य तथा पथ के विषय में अस्पष्टता के कारण उत्पन्न होते हैं। थोड़ा सा विश्लेषण करने पर हम पायेंगे कि भय में अधिकांश कल्पित होता है। साहसी, निर्भय साधक की समस्यायें व कठिनाइयाँ अपने आप दूर हो जाती है, तथा परिस्थितियाँ अनुकूल हो जाती है।

प्रबल देहात्मबोध, भय का एक प्रमुख कारण है। "मैं देह हूँ" जब तक यह अज्ञान बना रहेगा, तब तक जरा रोग मृत्यु का भय भी बना रहेगा। विपरीत क्रम से कहें तो जब तक मृत्यु का भय है तब तक देहात्म बोध भी रहेगा। अतः देहात्म बोध से उठने का एक उपाय मृत्यु आदि के भय का त्याग करना है। मृत्यु का भय अज्ञान का भय है, क्योंकि हमें उसका अनुभव नहीं है। इस पर विजय प्राप्त करने के लिए किसी न किसी प्रकार से इसको अनुभव के क्षेत्र में लाना पड़ता है। यह विचार द्वारा अथवा अन्य लोगों के जीवन में मृत्यु को देखकर किया जा सकता है। अगर जीवन में भौतिक सुख की तीव्र लालसा न हो तथा न्यूनाधिक मात्रा में शरीरिक व मानसिक कष्ट सहन किया हो, तो भय की मात्रा कम हो जाती है। सर्वोपरि अर्थहीन, कल्पित भय से विवेक विचार द्वारा शीघ्र छुटकारा पाया जा सकता है। आध्यात्मिक साधना पर्वतारोहण, समुद्र में गोता लगाने आदि की तरह एक साहसिक कार्य है। अतः इस मार्ग में भय के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। इसका अर्थ यह नहीं कि हम अपने आप को बहुत बलवान या सक्षम समझें तथा दुःसाहस पूर्वक ऐसे कार्य करने का प्रयत्न करें जो हमारी शक्ति के बाहर हो। लेकिन जो व्यक्ति सदा असफलता, पतन अथवा बाधाओं से सदा भयभीत रहता है वही—अधिक गिरता है। उसी तरह जो अधिक आश्वस्त रहता है, वह भी फिसले बिना नहीं रहता। स्वयं की शक्ति का सही अंकन करना, तथा सावधानी

बरतना उतने ही आवश्यक हैं जितने साहस और निर्भयता।

सहिष्णुता और अहिंसा :

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार सहिष्णुता और अहिंसा बल के द्योतक हैं। प्रतिकार की सामर्थ्य होते हुए भी सहन करना अधिक बल की अभिव्यक्ति है। स्वामीजी बैल और मच्छर का दृष्टान्त देते हुए कहते थे कि एक मच्छर बहुत देर तक एक बैल की सींग पर बैठा रहा। उड़ते समय इतनी देर तक बैल को कष्ट देने के लिए उसने बैल से क्षमा याचना की। इस पर बैल ने कहा कि तुम अपने परिवार के सभी सदस्यों के साथ मेरी देह पर जितने समय चाहो रहो, मुझे कोई कष्ट नहीं होगा। तात्पर्य यह कि बलवान व्यक्ति ही संसार की छोटी मोटी बाधाओं को हर्ष विषाद रहित होकर सहन कर सकता है। किसी के द्वारा दिये गये कष्ट या पीड़ा का प्रतिकार उसे दुःख पहुँचाकर करना बल का नहीं, ओछेपन का लक्षण है। "जिसकी लाठी, उसकी भैंस" 'जैसे को तैसा" आदि सिद्धान्त सामान्य लोगों के लिए हैं। एवं अन्याय का युद्धादि द्वारा प्रतिकार करना एक स्तर पर बल का लक्षण भले ही माना जाय, किन्तु इससे भी उच्च एक स्थिति है। प्रतिकार का बल होते हुए भी अम्लान वदन उसे सहन करना अधिकतर बल का द्योतक है। लेकिन दुर्बलता और असमर्थता को कहीं हम सहिष्णुता न समझ बैठें, इसीलिए स्वामीजी ने दुर्बल युवकों से पूछा था कि उनमें डाका डालने, चोरी करने आदि की सामर्थ्य है या नहीं। उनका आशय युवकों से डाका डलवाना नहीं था।

शक्ति की कई प्रकार की अभिव्यक्तियाँ हो सकती हैं। पुराणों में ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश को सृष्टि, पालन तथा संहार का देवता माना गया है। तथा ये कार्य क्रमशः राजसिक, सात्त्विक तथा तामसिक शक्तियों से सम्पन्न माने गये हैं। वस्तु का निर्माण तथा नाश सामान्यतः उसके संरक्षण अथवा स्थिति से अधिक नाटकीय घटनाएँ हैं। अतः निर्माण एवं नाश में शक्ति का कार्य स्पष्ट दिखाई देता है। लेकिन पालन अथवा संरक्षण में भी शक्ति की आवश्यकता है, तथा उसे सात्विक शक्ति की संज्ञा देकर उच्चतर स्थान प्रदान किया है। माता बच्चे के सभी अत्याचार लात मारना, रोना चिल्लाना आदि अम्लान वदन सहन कर उसका लालन पालन कर उसे बड़ा करती है। वह उसे बार बार मारती या दण्ड नहीं देती। सहिष्णु व्यक्ति का दृष्टिकोण इसी तरह का होता है।

इससे यह नहीं समझना चाहिये कि अहिंसक व्यक्ति केवल दूसरों के अत्याचारों को केवल चुपचाप सहन करता रहता है। वस्तुतः ऐसे व्यक्ति में इतना बल होता है कि लोग उस पर अत्याचार करने का साहस ही नहीं करते। आन्तरिक बल का एक लक्षण है कि दूसरों को हमारी दृढ़ता, एवं नैतिक बल, का भान हो। संसार इतना अशुभ है कि यदि हम दुर्बल हों तो लोग हमारा दुरुपयोग किये बिना नहीं चूकेंगे। अतः हमें इतना बलवान होना चाहिये कि लोग अनायास ही हमारे बल का अनुभव कर हमारे दुरुपयोग का साहस न करें। दृढ़ता एवं आत्मसम्मान के द्वारा स्वयं की रक्षा करनी चाहिए।

उपसंहार :

लोहे की जंजीर की शक्ति उसकी सबसे कमजोर कड़ी से जानी जाती है। अगर अधिकांश कड़ियाँ सबल हों, लेकिन एक दो कड़ियाँ दुर्बल हो तो ऐसी शृंखला दुर्बल ही मानी जायेगी। इसी तरह साधक के जीवन में किसी भी प्रकार की छोटी से छोटी दुर्बलता का होना, शुभ नहीं है। अनेक नैतिक सद्गुणों के होते हुए भी एकाध चारित्रिक दुर्गुण या दुर्बलता साधक के पतन का कारण बन सकती है। अतः तीव्र अध्यवसाय के द्वारा प्रयत्न पूर्वक सजग रहते हुए, अपने चरित्र की दुर्बलताओं का अवलोकन कर उन्हें धीरे-धीरे दूर करने का सदा प्रयत्न करते रहना चाहिए। □

निखिल-मातृ हृदय-सागर मंथन-सुधा-मूर्ति

स्वामी पूर्णात्मानन्द
अनुवादिका—डॉ० नन्दिता भार्गव

कुछ समय पूर्व ही विश्व के आध्यात्मिक इतिहास में दो महान घटनाएँ काल के अनुसार एक शताब्दी पूर्ण कर चुकी हैं। एक के विषय में तो बहुतों को ज्ञात है—वह है १६ अगस्त १८८६ को श्रीरामकृष्ण की महासमाधि। तथा दूसरी है जगत को आप्लावित करने वाले मातृस्नेह को वक्ष में धारण कर सारदा देवी का "आविर्भाव" जिसकी अभिव्यक्ति श्रीरामकृष्ण की महासमाधि के मुहूर्त से ही प्रारम्भ हो गयी थी। उनके इस आविर्भाव में श्रीरामकृष्ण की अभिलाषा और साधना की परिपूर्णता थी। श्रीरामकृष्ण सभी के प्रति माता सम भाव रखते थे। परन्तु पुरुष शरीर से उस भाव का वांछित विकास सम्भव नहीं था। उसके लिए आवश्यकता थी उनके समान ही शक्ति सम्पन्न एक और विग्रह की। वही विग्रह हैं सारदा देवी। श्रीरामकृष्ण मातृ भाव के विकास के लिए उन्हें रख गये थे। पुरुष शरीर के अतिरिक्त श्रीरामकृष्ण के लिए मातृ भाव के विकास में अन्य एक बाधा और थी। वह थी उनके जीवन की तीव्रता। वर्तमान जगत के आध्यात्मिक इतिहास में श्रीरामकृष्ण का व्यक्तित्व सूर्य सदृश था। उनकी असाधारण तपस्या, अभूतपूर्व त्याग, अलौकिक जीवन तथा अपार आध्यात्मिक विभूतियाँ संसार के समक्ष अत्यन्त विस्मयजनक हैं। उस महान जीवन की ज्योति किरणें इतनी प्रखर हैं कि दृष्टि मात्र से ही आँखें चकाचौंध हो जाती हैं। जब अग्नि समान इस पुरुष ने इस स्थूल शरीर से विदा ले ली तो मानो आध्यात्मिक गगन सूर्यविहीन हो गया। परन्तु सूर्य विहीन होने पर भी शून्यता नहीं हो सकी। कारण अन्य एक रूप से उन्होंने मानो स्वयं के ही रिक्त स्थान को भर दिया। उनका वह द्वितीय स्वरूप था सारदा देवी का। दिवस की समाप्ति पर पश्चिम दिशा में सूर्य के विदा लेते ही तत्काल पूर्वी सीमान्त में चन्द्रोदय हो जाता है। यहाँ भी वैसा ही हुआ। श्रीरामकृष्ण रूपी सूर्य के अस्ताचल गमन के साथ साथ सारदा रूपी चन्द्रिका ने उदित होकर अंधकार को दूरीभूत कर दिया। किन्तु यह चन्द्रोदय इतना ही आडम्बरहीन था कि उस क्षण दो चार जनों के सिवा किसी को भी वह दृष्टिगोचर नहीं हुई। बहुत नीरवता से, बहुत ही धीरे धीरे सारदा रूपी चन्द्रमा की किरणमालाएँ विस्तृत हुईं। नीरवता से ही, यर्थाथ में बहुत धीरे धीरे ही। परन्तु बहुत ही निश्चिन्त भाव से वे किरणें धरती को स्पर्श करती रहीं—इस धरती को संजीवित करती रहीं। कोई सुन भी नहीं पाया, किसी ने निहारा भी नहीं, परन्तु वह फलीभूत होकर रहीं। जिस प्रकार रात्रि में ओस बिन्दु कब आ गिरती है, यह किसी को मालूम भी नहीं होता है—कोई जान भी नहीं पाता और देख भी नहीं पाता, फिर भी वह घटना घट जाती है। उसके प्राणदायिनी स्पर्श से ही तृण, गुल्म, शस्य आदि पुष्ट होते हैं, वृक्षों में पुष्प रंग और सुगन्ध से सतेज हो खिल उठते हैं। शिशु रूपी रामकृष्ण संघ का किस भाँति नेपथ्य से सारदा देवी की मातृ शक्ति ने लालन पालन किया, उसकी रक्षा की, यह सब बातें आज बहुतों को मालूम है। रामकृष्ण संघ के संन्यासी ब्रह्मचारीगण इस घटना से अवगत

हैं। वे सब अवगत हैं जाति, धर्म तथा वर्ण का विचार नहीं कर असंख्य नर नारियों के प्रति माँ सारदा के सीमाहीन ममता और स्नेह की कथाओं से। परन्तु लीला संवरण के पश्चात् सूक्ष्म शरीर से तथा सूक्ष्म भाव से, दूर अति दूर के देश देशान्तरों में, "श्रीरामकृष्ण के विश्व प्रेम को धारण करने के लिए उनका अपना ही यह आधार" किस प्रकार अनगिनत मनुष्यों के हृदयों को शान्ति प्रदान कर रहा है—आकर्षित करता चला जा रहा है—इन सब के बारे में हम बहुत कम ही जानते हैं। आज केवल पश्चिम बंगाल में ही नहीं, अपितु समग्र भारतवर्ष में सारदा रूपी चन्द्रमा का प्रभाव एक विराट रूप में विस्तारित हो रहा है। भारत की सीमा के पार, बांगला देश जापान, जर्मनी, इंगलैंड, फ्रांस, स्विटजरलैंड, पोलैंड, कनाडा, अमेरिका, अफ्रीका—यहाँ तक कि लौह पर्दे के उस पार सोवियत रूस—सर्वत्र ही अनगिनत नर नारी सारदा-चन्द्रमा की मृदुल किरण में अवगाहन कर रहे हैं। किसी को भी नहीं मालूम कि यह सब कैसे हो पाया? किन्तु ऐसा घट रहा है। यह एक घटना है।

इन किरणों के फैलाव की कथा अति मर्मस्पर्शी है। मिथक नहीं - सत्य इतिहास है। एक या दो दृष्टांतों से ही बोधगम्य हो सकता है कि किस भाँति, पृथ्वी के एक छोर से दूसरे छोर तक, सारदा देवी अपने तेजस्वी आकर्षण का विस्तार कर रही हैं। कुछ मास पहले की बात है, रामकृष्ण मिशन के किसी एक केन्द्र के पुस्तक विक्रय विभाग में, एक दिन सुबह ग्यारह बजे के आसपास, एक रिक्शा चालक आया। वह एक पुस्तक खरीदना चाहता था। पर वह पुस्तक का नाम नहीं बता सका। वह बोला, "अभी हाल में आपके यहाँ से पुस्तक खरीद कर एक महिला मेरे रिक्शे में आ बैठी। उन्हें गन्तव्य स्थान में पहुँचाकर मैं पुस्तक खरीदने आया हूँ। उस पुस्तक के ऊपर किसी स्त्री की बड़ी सी तस्वीर है, पर पुस्तक का नाम मैं नहीं जानता हूँ।" उस व्यक्ति को "सात रूपे शारदा" नामक पुस्तक को दिखा कर पूछा गया कि क्या वह उसी पुस्तक को ढूँढ रहा है? पुस्तक को देखते ही उसका चेहरा खिल उठा।

व्यग्रता से उसने कहा, "हाँ बाबू हाँ, मैं इसी पुस्तक को खरीदना चाहता हूँ। इसे ही मैंने उस महिला के पास देखा था। "विक्रय विभाग के कर्मचारी ने कहा "इस पुस्तक का मूल्य साठ रुपये है।" रिक्शा वाले ने बताया कि उसके पास तो केवल दस रुपये ही हैं जो उस समय तक उसने कमाये थे। अपने उपार्जन का सम्पूर्ण अर्थ देकर भी वह पुस्तक को खरीद नहीं पायेगा यह जानकर वह अत्यन्त उदास हो गया। इस बीच विक्रय विभाग के प्रभारी संन्यासी की दृष्टि उस पर पड़ी तो उन्होंने रिक्शा चालक से पूछा, "आप इस पुस्तक को लेकर क्या करेंगे? क्या पढ़ना आता है?" रिक्शा चालक ने उत्तर दिया, "बाबू मैं पढ़ा लिखा नहीं हूँ, परन्तु मेरा पुत्र पढ़ना जानता है। इस बार वह मैट्रिक की परीक्षा देगा। मैं उसे कहूँगा तो वह मुझे पढ़कर सुना देगा।" संन्यासी ने पूछा, क्या आपको मालूम है कि यह पुस्तक किसके विषय में है—आवरण-पृष्ठ पर किसकी तस्वीर है?" उसने उत्तर दिया, "बाबू, मैं कुछ भी नहीं जानता हूँ। मैंने तो केवल मात्र उन महिला के हाथों में उस पुस्तक को देखा था। आवरण-पृष्ठ की तस्वीर को देखने के बाद से ही मेरा मन अधीर हो रहा है। उस तस्वीर को देखकर मुझे लगा मानो मेरी माँ की तस्वीर है। मैं जब बहुत छोटा था, तब ही मैंने अपनी माँ को खो दिया था। मेरी माँ देखने में कैसी थी, मैं नहीं जानता हूँ। मुझे लगा जैसे यही मेरी माँ है—मेरी अपनी माँ की तस्वीर है। इस कारण उक्त महिला को उतार कर मैं भाग कर इस पुस्तक को खरीदने आया हूँ। परन्तु इस का मूल्य साठ रुपये है और मेरे पास तो मात्र दस रुपये ही हैं।" यह कहते कहते वह झर झर आँसू बहाने लगा। संन्यासी

उसकी बातों को सुनकर इतने अभिभूत हो गये कि कुछ क्षण तक कुछ बोल ही नहीं पाये। तत्पश्चात् उन्होंने उस रिक्शा चालक से कहा, "भाई आपको मूल्य नहीं देना होगा। इस पुस्तक को ले जाइये।" परन्तु उसने कहा, 'पैसे दिये बिना मैं अपनी माँ की पुस्तक को कैसे ले लूँ? मेरे पास जितना भी है मैं वही दूँगा।" उसकी विनती से संन्यासी को उससे दस रुपये लेने ही पड़े। संन्यासी ने पुस्तक के साथ उसे उसकी माँ की एक तस्वीर भी उपहार स्वरूप दी। पुस्तक और तस्वीर पाकर रिक्शा चालक बहुत प्रसन्न हुआ। उसके नयनों से झर झर आँसू गिरने लगे।

द्वितीय दृष्टान्त का स्थान पूर्वी बंगाल आज का बांगला देश है। उस समय बांगला देश का जन्म हुआ ही था। भारत से रामकृष्ण मिशन के कतिपय संन्यासीगण राहत कार्य के लिये बांगला देश गये हुए थे। एक दिन, वे सब एक "जीप" में बैठकर ढाका से जैसोर की ओर जा रहे थे। मार्ग में तृष्णा-निवृत्ति के लिए एक चाय की दुकान के सामने गाड़ी रुकवाई। दुकान एक मुसलमान की थी। वहाँ उन लोगों ने एक तस्वीर देखी वह सारदा देवी की तस्वीर थी। वहाँ उस तस्वीर के सिवाय और कोई तस्वीर नहीं थी। कौतूहलवश ही, उनमें से एक ने मुसलमान दुकानदार से पूछा, "क्या आप बतला सकते हैं कि यह तस्वीर किसकी है?" दुकानदार ने उत्तर दिया, 'मैं नहीं जानता हूँ कि यह तस्वीर किसकी है? "तो फिर यह तस्वीर यहाँ क्यों रखी है?—एक संन्यासी ने पुनः प्रश्न किया। इसके उत्तर में उसने जो कुछ भी कहा, उसका पूर्व में उल्लिखित रिक्शावाले के कथन से आश्चर्यजनक सादृश्य है। उसने कहा, "जब मैं चार वर्ष का था, तब मेरी माता की मृत्यु हो गयी थी। मुझे नहीं मालूम कि मेरी माता देखने में कैसी थी। बड़ा हुआ तो मित्रों से उनकी माताओं की बातें सुनता था, देखता भी था कि माताएँ उनको कितना दुलार करती हैं। यह देख मुझे बहुत कष्ट होता था। अकेले में रोता रहता था। कल्पना में ही मैंने अपनी माता की एक प्रतिमा बना ली थी। स्वप्न में भी उसी प्रतिमा को देखा करता था। एक दिन अचानक एक 'कैलेण्डर" मिल गया। उसी में यह तस्वीर थी। यह मैं नहीं जानता हूँ कि यह तस्वीर किसकी है। जानने की इच्छा भी नहीं होती। तस्वीर को देखते ही मुझे ऐसा लगा मानो यह मेरी माता है—मेरे स्वप्नों की, कल्पना की माता। वही चेहरा, वही आँखें, वही सब कुछ है। जिन माता को मैंने पाकर भी नहीं पाया, देख कर भी जिनकी कोई भी स्मृति मेरे मानसपटल में नहीं रही, उन्हीं माता को मैंने इस तस्वीर में पाया है। दूसरे ही दिन मैंने इस तस्वीर को 'फ्रेम" में जड़वा कर यहाँ टाँग दी। इन्हें देख कर ही मेरा हृदय परिपूर्ण हो जाता है। यह मेरी माता है, मेरी खोई हुई माता। यह कहते कहते उस व्यक्तिकी आँखें डबडबा गयीं। उसकी दोनों ही आँखों के कोनों में बड़ी बड़ी आँसू की बूँदें छलछला रही थीं।

तीसरे वृतान्त का स्थान है—वेदान्त सोसाइटी, हालिवुड—अमरीका में रामकृष्ण मिशन का केन्द्र। यह घटना प्रायः पन्द्रह वर्ष पूर्व की है। एक दिवस पूर्वाह्न को एक उच्च शिक्षित अमरीकन युवती आयी। वह सोसाइटी के अध्यक्ष स्वामी प्रभवानन्द जी के दर्शन करना चाहती थी। अतः दर्शनार्थी कक्ष में बैठी प्रतीक्षा करने लगी। उस दिन प्रभवानन्द जी सोसाइटी के कार्यवश बाहर गये हुए थे। इस कारण सहकारी अध्यक्ष संन्यासी ही जब उससे मिलने आये तो उन्होंने एक बहुत ही अद्भुत बात देखी। उस कक्ष में सारदा देवी की जो तस्वीर थी वह युवती उस की ओर एक टक देखते हुए रोती जा रही थी। संन्यासी को देखकर रोते रोते ही उसने उत्सुकता से पूछा, "यह कौन है? मैं तो समस्त अमरीका में इन्हें ही खोजती फिर रही हूँ।" संन्यासी ने प्रश्न किया, "क्यों भई, आप इन्हें खोज क्यों रही हैं?" युवती ने उत्तर

दिया, "मुझे वे प्रायः स्वप्न में दिखाई देती हैं और कहती हैं कि मैं उनके पुत्रों से सम्पर्क करूँ। इनकी आँखों में सम्मोहन है। वे मुझे प्रबल रूप से आकर्षित कर रही हैं। मैं अमरीका में अनेक स्थानों में उन्हें और उनके पुत्रों को ढूँढ़ने गयी। अन्त में मुझे एक ने यहाँ का पता बताकर कहा कि उनका पता यहाँ मिल सकता है। मैं आज इसी कारणवश ही यहाँ आई हूँ। मैं अब बहुत आनंदित हूँ। मुझे इनके विषय में बतलाइये।" इस बात के साथ ही उस लड़की के चेहरे पर अधीरता तथा व्यग्रता का भाव जग उठा।

चौथी घटना है सोवियत रूस की। डॉ० आर० बी० विराकोव वहाँ के प्रवीण बुद्धिजीवी, मार्क्सवाद के विद्वान, आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण सम्पन्न व्यक्ति हैं। उन्होंने एक वृहत ग्रन्थ—श्रीरामकृष्ण की पूर्णांग जीवनी की रचना करने का संकल्प किया है। ग्रन्थ के एक भाग में रहेंगी—नहीं—स्वामी विवेकानन्द नहीं—सारदादेवी। ऐसा क्यों होगा? इसका उत्तर डॉ० विराकोव ने स्वयं ही एक पत्र में दिया है। उन्होंने रामकृष्ण मिशन के एक वरिष्ठ संन्यासी को लिखा है।(३० नवम्बर, १९८६)

"I have now an idea about my future book on Shri Ramakrishna. The idea is to start with Sarada Devi whom I consider to be one of the greatest, nay—THE GREATEST-if you permit me to say – acievement of shri Ramakrishna in this world. She was an ordinary Indian village girl and he made her into an absolutely outstanding personality which for me is a symbol of India herself. Divine yet human, a real woman, but saintly, the MOTHER has an irresistible appeal to me. She was so modest that only few could fathom her greatness while she was alive. But in my view she was the force and inspiration behind the whole Mission and behind Swami Vivekananda as well." (श्रीरामकृष्ण के विषय में जो ग्रन्थ मैं लिखने जा रहा हूँ उसकी मैंने एक रूपरेखा तैयार कर ली है। उस ग्रन्थ को मैं सारदा देवी से ही प्रारम्भ करूँगा। मेरे विचार से वे पृथ्वी में श्रीरामकृष्ण के अन्यतम श्रेष्ठ ही नहीं, सर्व श्रेष्ठ (यदि मुझे कहने की अनुमति दें) दान हैं। वे थीं एक साधारण भारतीय ग्रामकी बालिका, परन्तु श्रीरामकृष्ण ने उनका रूपान्तर एक असाधारण तथा विराट व्यक्तित्व में कर दिया। मेरे निकट वे भारतवर्ष की प्रतीक स्वरूपा हैं। देवी होकर भी वे मानवी थीं। साधारण नारी होकर भी वे महान् संतसाधिका थीं। माँ का आकर्षण मेरे लिये बहुत प्रबल है। वे इतनी साधारण भाव से रहतीं थीं कि उनके जीवन-काल में मुट्ठी भर लोग ही उनकी महिमा को बोधगम्य कर पाये थे। मेरे विचार में, अन्तराल में रहकर भी वे ही थीं समग्र रामकृष्ण मिशन की शक्ति और प्रेरणा। केवल मिशन ही नहीं, स्वामी विवेकानन्द के लिए भी वे शक्ति और प्रेरणारूपिणी थीं।)

यह सब कैसे सम्भव हुआ? यह हो पाया था विश्व को आप्लावित कर देने वाली उनकी मातृत्व—शक्ति से। एक गीत में उनके विषय में इस प्रकार कहा गया है—'निखिल-मातृ हृदय-सागर-मन्थन-सुधा मूर्ति", सारदा देवी आज केवल श्रीरामकृष्ण (अथवा रामकृष्णसंघ की) के अनुरक्त भक्त जनों की ही जननी नहीं हैं, उस वृत्त के बाहर भी वे अनेक की माँ हैं। संसार के नाना प्रान्तों के कितने ही लोग, जो श्रीरामकृष्ण के अनुयायी भी नहीं हैं, बहुतों को तो श्रीरामकृष्ण के विषय में कुछ मालूम भी नहीं, परन्तु उन सभी को सारदा देवी के जीवन से प्रेरणा मिलती है। केवल उनकी तस्वीर को ही देखकर एक अत्यन्त प्रबल आकर्षण का अनुभव कर रहे हैं। यह कैसे सम्भव हो रहा है? इसका उत्तर हम पाते हैं ऊपर उल्लिखित गीत

की पंक्ति से। ऊँच-नीच, धनी-दरिद्र, शिक्षित-अशिक्षित, भारतीय-अभारतीय, हिन्दू-मुसलमान, बौद्ध-ईसाई, श्वेत-कृष्णवर्ण, समग्र पृथ्वी के जितने भी, जहाँ जहाँ जननी सकल है, उनके हृदयों का मन्थन कर, उनके स्नेह ममता को निचोड़ कर एक प्रतिमा साकार हुई है। और उसी साकार प्रतिमा का नाम है सारदा देवी। उनका स्नेह सीमाहीन था। हिन्दू-मुसलमान, पारसी-ईसाई ब्राह्मण-चाण्डाल, उन्नत-पतित, साधु-तस्कर, वे सभी की माँ थीं। कोई भी उनकी स्नेह दृष्टि से वंचित नहीं हुआ। अन्य जाति की अथवा पतित स्त्री या पुरुष को आश्रय दान या स्नेह करने के लिए, यदि कोई प्रभावशाली भक्त या निकट का कोई जन उन्हें चेतावनी देता, या किसी प्रकार दबाव डालने की चेष्टा करता तो मानो "लक्ष्मण रेखा" को तोड़ वे साफ कह देती थीं, मैं तो उन्हीं के साथ रहूँगी, वे सब मेरे पास आयेंगे। इस पर यदि किसी को कोई आपत्ति या असुविधा हो तो मैं निरुपाय हूँ। जिन्हें आपत्ति या असुविधा हो रही है, वे मेरा साथ त्याग सकते हैं।

उन्होंने सचेत होकर किसी सामाजिक सुधार के लिये चेष्टा नहीं की। परन्तु उन्होंने बहुत नीरवता से, लोक दृष्टि से दूर एक ऐसा जीवन अतिवाहित किया कि उस जीवन ने एक महा क्रांति की सूचना कर दी। उन्होंने संसार को यह दिखा दिया कि केवल मात्र स्नेह के मंत्र से ही मानव को चेतना की उर्ध्वगति सम्भावित है। उनसे निसृत आलोक छटा माटी के दीप की शान्त मृदुल किरणों की भाँति ही तो है। गंगा की भाँति अप्रतिरोध्य गति से वह सर्व आप्लावित करने वाली मातृ शक्ति एक दिन समग्र मानव जाति को महा संगम की ओर आकर्षित कर ले जायेगी, यह हम लोगों का विश्वास है—जिस महा संगम का एक नाम है शक्ति और दूसरा है प्रेम—उस महासंगम का ही अन्य नाम है सारदा देवी। हम जान पा रहे हैं या नहीं, हम समझ पा रहे हैं या नहीं, पर हम लोगों के जीवन में वे प्रवेश करतीं जा रही हैं, इसी कारण निवेदिता ने लिखा है, "सत्य ही तुम ईश्वर की एक अपूर्व सृष्टि हो। श्रीरामकृष्ण के विश्व प्रेम को धारण करने का उनका अपना ही एक आधार यह स्मृति चिह्न वे अपनी बेसहारा सन्तानों के लिये छोड़ गये थे। सत्य ही ईश्वर की अपूर्व सृष्टि समस्त मौन ही होती है। वह अनकहे ही हमारे जीवन में प्रवेश करतीं हैं—जैसे हवा, सूर्य का आलोक, गंगा की मधुरिमा-यह सब निस्तब्ध रचनाएँ तुम्हारी भाँति ही हैं।"

यह नीरव महान् जीवन धीरे धीरे वाक्मय होता जा रहा है। किसी भाँति भी उसके आलोक को रोका नहीं जा सकता। कारण उसका दूसरा नाम सत्य जो है!

कृपां कुरु महादेवी सुतेषु प्रणतेषु च। चरणाश्रय दानेन कृपामयि नमोऽस्तुते॥
लज्जापटावृते नित्यं सारदे ज्ञानदायिके। पापेभ्यो नः सदा रक्ष कृपामयि नमोऽस्तुते॥

हे महादेवी, अपने प्रणत पुत्रों पर कृपा करो। हे कृपामयी, अपने चरणों का आश्रय प्रदान करो। हम तुम्हें प्रणाम करते हैं। हे ज्ञानदायिनी सारदा, तुम निरन्तर लज्जा के आवरण से आवृत हो। हे कृपामयी, तुम निरन्तर पापों से हमारी रक्षा करती रहो। हम तुम्हें प्रणाम करते हैं।

स्वामी अभेदानन्द

कबीर जयन्ती के अवसर पर

स्वामी रामानन्द और संत कबीर

—गंगाशरण दास

संसार में महापुरुषों का अवतरण होने का कोई कारण होता है। जितने भी महापुरुष हुए हैं, उन्हें समाज की मांग ने प्रकट किया है। जब संसार में अशान्ति फैल जाती है, लोग एक-दूसरे के शत्रु बन जाते हैं, मानव मानव का विनाश करने लग जाता है तो आस्तिक जगत के अनुसार परमात्म शक्ति संसार को स्थिर रखने एव शान्ति प्रदान करने के लिए किसी न किसी महापुरुष का पदार्पण कराती है। उस महापुरुष के द्वारा शान्ति का वातावरण बनता है और लोग चैन की सांस लेते हैं। उन्हीं महापुरुषों में सद्गुरु स्वामी रामानन्दाचार्य आते हैं, जिन्होंने बहुत काल तक शरीर धारण कर संसार का बहुत बड़ा उपकार किया। भारतीय सन्त परम्परा में भगवान महावीर एवं भगवान बुद्ध के बाद सद्गुरु श्री रामानन्द स्वामी का नम्बर आता है। वे ऐसे समय में प्रकट हुए जब देश पर विदेशी शासक शासन करता था और भारतीय मनीषा को दासता की बेड़ी में जकड़ दिया था। भारतीय संस्कृति को छिन्न-भिन्न करके दुर्गन्ध की टोकरी में डाल दिया गया था। भारतीय समाज अत्यन्त क्षुब्ध था।

भक्तों की पुकार पर विक्रम की चौदहवीं शताब्दी का अन्त होते-होते एक दृढ़ कवचधारी पुरुष प्रकट हुआ जो भारत भूमि का उद्धार करने में समर्थ हुआ जिसके बारह शिष्यों में प्रधान शिष्य युग प्रवर्त्तक सद्गुरु कबीर भी अवतरित हुए। स्वामी रामानन्द रूपी वट वृक्ष में द्वादश स्कन्ध ऐसे उत्पन्न हुए जो किसी के काटने से कटने वाले नहीं थे। जिन्होंने देश के कोने-कोने में घूमकर भारतीय समाज का उद्धार किया।

स्वामी रामानन्द के समाज में न कोई ब्राह्मण था न कोई शूद्र था। सभी मानव थे। सभी मन्दिर में जाने के अधिकारी थे, सभी को वेद ज्ञान प्राप्त करने का जन्म सिद्ध अधिकार था। सभी लोग ईश्वर की कृपा के पात्र थे। मानव-मानव में निम्न और श्रेष्ठ की श्रेणियां बांटी गयी थीं, उन सब लोगों के विचारों को उन प्रथाओं को स्वामी रामानन्द ने पूर्णरूपेण नकार दिया। उन्होंने एक नये समाज का निर्माण किया जिसका नाम वैष्णव रखा। जबतक वे जीवित रहे, जबतक उनके बारह शिष्य विद्यमान थे, तबतक उनके विचार समाज पर लागू थे। पर उसके बाद पुनः वैष्णव समाज वर्णाश्रम की बेड़ियों में जकड़ गया।

आज जाति के नाम पर सभी जातियों के मन्दिर अलग-अलग बन गये हैं। क्या स्वामी रामानन्द ने यही सुझाया था? क्या उनकी यही सीख थी? हमें अपने कृत्य पर पश्चाताप करना चाहिए क्योंकि हम गुरु के बताये उपदेशों पर नहीं चल रहे हैं। हम पुनः समाज को अनेक टुकड़ों में बांट रहे हैं। जिस गुरु ने मानव से मानव को जोड़ने की बात की थी वहीं पर आज हम मनुष्यों को

अनेक टुकड़ों में विभाजित कर दिया गया है। आज मेरी करनी और कथनी में महान अन्तर हो गया है। इसलिए हमारा प्रभाव समाज से उठ चुका है। हम अपनी कमजोरियों के कारण समाज पर प्रभावी नहीं हो पा रहे हैं। जिस योगध्यान की उपासना का मार्ग गुरु रामानन्द ने और उनके सुशिष्यों ने समाज को दिलाया था आज वह सब छोड़कर हम उससे पृथक हो गये हैं।

यदि हमें अपनी अस्मिता और अपने गौरव को बचाना और पुनः प्राप्त करना है तो हमें कथनी और करनी को एक करना पड़ेगा। बाहर भीतर एक भाव रखना पड़ेगा। तभी हम सम्प्रति डूबते हुए समाज का उद्धार कर सकते हैं। अन्यथा थोथे नारों से लच्छेदार लेखों और भाषणों से कुछ होने जाने का नहीं है।

हमें यदि जीवित रहना है तो उदार बनना होगा। सारी मानवता को अपना कुटुम्ब समझना होगा। घोर तपस्या करनी पड़ेगी। शास्त्रीय ज्ञानका और वाचक ज्ञान का अभिमान छोड़ना पड़ेगा। घोर इन्द्रिय निग्रह करना पड़ेगा। बिना आत्मसंयम के हमारे में तेज नहीं आ सकता। इसलिए स्वच्छ वृति अपनानी होगी। स्वामी रामानन्द जन-श्रुति के अनुसार अधिक मौन रहते थे। अहर्निश बहुतकालतक गुफा में बैठकर घोर साधना की थी। वे सिंह पुरुष थे। उनके आचरण को देखकर लोग उनकी ओर आकृष्ट हो जाते थे।

आज आवश्यकता इस बात की है कि हम स्वामी रामानन्दजी और उनके शिष्य कबीरदास के आदर्शों, शिक्षाओं का अनुसरण करें। इन सन्तों के अनुरूप महान उदारता का उदाहरण उपस्थित करना पड़ेगा। समस्त भेदभाव को समस्त छुआछूत को मिटाकर सबको आर्य बनाना पड़ेगा। आर्यत्व की स्थापना करनी पड़ेगी। उदारता और प्रेम के द्वारा ही हम अपने चिरन्तन ऋषियों के उपदेशों को ऋषियों के उद्घोष को संसार में बिखेर सकते हैं। उनके बताये मार्ग पर चलकर ही हम अपने को सुरक्षित पायेंगे। क्योंकि हमारे यहां लिखा है कि संघे शक्ति कलौयुगे। पहले तो मुझे अपने समाज को निष्कलुष उदार, चरित्रवाला महान बनाकर संसार को दिखाना पड़ेगा कि भारत जैसे पहले सबका गुरु था उसी प्रकार से आज भी गुरु कहलाने का अधिकारी है।

यदि मछुआ को तुम वेदान्त सिखलाओगे तो वह कहेगा, हम और तुम दोनों बराबर हैं। तुम दार्शनिक हो, मैं मछुआ; पर इससे क्या? तुम्हारे भीतर जो ईश्वर है, वही मुझमें भी है। हम यही चाहते हैं कि किसी को कोई विशेष अधिकार प्राप्त न हो, और प्रत्येक मनुष्य को उन्नति के लिए समान सुभीते हों। सब लोगों को उनके भीतर स्थित ब्रह्मतत्व सम्बन्धी शिक्षा दो। प्रत्येक व्यक्ति अपनी मुक्ति के लिए स्वयं चेष्टा करेगा।

स्वामी विवेकानन्द (वि० सा० ५. १४१)

श्रीरामकृष्णदेव के सम्बन्ध में मेरे संस्मरण

—भवतारिणी

[श्री रामकृष्णदेव के सम्बन्ध में यह निम्नोक्त संस्मरण उनके शिष्य-शिष्याओं में सबसे अन्त में देहत्याग करनेवाली उनकी एक शिष्या का है। इस संस्मरण की हृदयस्पर्शी सरलता, एक अति असाधारण अनुभूति की अभिव्यंजना के साथ युक्त हो, उस अपेक्षाकृत छोटे से साहित्य-भण्डार की अभिवृद्धि में एक अपूर्व योगदान देती है, जो श्रीरामकृष्णदेव के सम्बन्ध में उनके गृही शिष्यों की रचनाओं से निर्मित हुआ है।

लेखिका तब मात्र आठ वर्ष की बालिका थी, जब पहली बार उसकी श्रीरामकृष्ण से भेंट हुई थी, परन्तु इसने और इसके बाद की भेंटों ने उसका समस्त जीवन परिवर्तित कर दिया। भवतारिणी की माँ श्रीरामकृष्ण की रिश्तेदार थीं, और श्रीरामकृष्ण ने ही भवतारिणी का व्याह अपने एक गृही-भक्त और सम्बन्धी उपेन्द्रनाथ मुखर्जी से तय करबाया था। ये उपेन्द्रनाथ मुखर्जी वही थे, जिनके छापेखाने में लाटू महाराज (स्वामी अद्भुतानन्दजी) महीनों रहे थे।

उपेन्द्रनाथ बहुत निर्धन थे, पर उन्हें आशा थी कि श्रीरामकृष्णदेव की कृपा से वे धन अर्जित कर लगे। और, सचमुच, बाद में उन्होंने किया भी। वे कलकत्ता के धनी प्रकाशकों में से एक बन गये। उपेन्द्रनाथ की सन् १९१५ में मृत्यु हुई थी।

यह संस्मरण बँगलौर के रामकृष्ण आश्रम में २६ जुलाई १९५५ की सन्ध्यारती के ठीक बाद लिपिबद्ध किया गया था। इसका बँगला से अँगरेजी अनुवाद बँगलौर के तत्कालीन अध्यक्ष (बाद में रामकृष्ण संघ के उपाध्यक्ष) स्वामी यतीश्वरानन्दजी ने किया था। यह 'वेदान्त एण्ड दि वेस्ट' के १९६८ के सितम्बर-अक्तूबर वाले अंक में छपा था, जहाँ से यह साभार गृहीत एवं अनूदित हुआ है।

१९६८ में अँगरेजी लेख के छपने के समय भवतारिणी ९४ वर्ष की थीं, पर नीरोग और स्वस्थ थीं तथा बनारस में अपने अन्तिम दिन बिता रही थी। अपने पति की १९१५ में मृत्यु होने के उपरान्त, वे संन्यासिनी का-सा जीवन जी रही थीं। उस लम्बी उम्र में भी वे कठोर तपस्यामय जीवन-यापन करतीं। उनका एकमात्र आहार कुछ दूध तथा केला था, जो वे रात्रि में श्रीरामकृष्णदेव को पहले अर्पित कर फिर प्रसाद पातीं। उनके पुत्र और एक नाती को गुजरे भी दस वर्ष से अधिक हो गये थे। अभी कुछ समय पूर्व ही भवतारिणी भी इहलोक छोड़कर श्रीरामकृष्ण-लोकवासिनी हो गयी हैं।—सं०]

जब मैं आठ साल की थी, एक दिन ठाकुर (श्रीरामकृष्णदेव) हमारे घर भोजन के लिए पधारे। मैं पास कहीं खेल रही थी, खूब नटखट थी। मेरी माँ ने नौकरानी भेज मुझे बुलवाया। ठाकुर ने मेरा नाम पूछा। माँ ने बतलाया, "हूबी।" (अर्थात् वह बच्चा जो देर से बोलना आरम्भ करता है।) ठाकुर चाहते थे कि नाम को बदल दिया जाय। उस समय लड़कियों का

नाम फूलों पर रखने का प्रचलन था, पर ठाकुर ने दक्षिणेश्वर की जगन्माता के नाम पर मेरा भवतारिणी नाम रखा।

उसके बाद एक बार और जब मैं आठ वर्ष की ही थी, ठाकुर हमारे यहाँ भोजन के लिए पधारे। उस समय उन्होंने मेरी माँ से मेरी उम्र पूछी। माँ ने बतलाया, "आठ साल।" ठाकुर ने तब कहा, "तुम्हारी लड़की आठ साल की हो गयी! तब तो उसकी शादी (अर्थात् सगाई) हो जानी चाहिए। मेरी नजर में उसके लिए एक सुयोग्य वर है।" माँ राजी हो गयीं और लड़के के बारे में पूछा। ठाकुर बोले, "ज्यादा पढ़ा-लिखा नहीं है।" इस पर माँ ने कहा, "तब तो ठीक नहीं है।" तब ठाकुर ने जोर देकर कहा, "भविष्य में उसका भाग्योदय होगा, क्योंकि यह (भवतारिणी) लक्ष्मी है।"

एक दिन उपेन्द्रनाथ की माँ ठाकुर के दर्शन के लिए दक्षिणेश्वर गयीं। ठाकुर ने उनसे कहा, "तुम्हारे बेटे की इस लड़की के साथ शादी होनी चाहिए।" वे राजी हो गयीं। नरेन्द्र (स्वामी विवेकानन्द) उस समय वहीं थे। उन्होंने पूछा, "किसकी शादी होनेवाली है?" ठाकुर ने उन्हें जानकारी दी। तब नरेन्द्र ने इस विवाह के विरुद्ध अपना अभिप्राय दिया, क्योंकि मैं सुन्दर न थी तथा बहुत साँवली थी। ठाकुर से उन्होंने उपेन्द्रनाथ के लिए कोई दूसरी लड़की ढूँढ़ने के लिए कहा। पर ठाकुर ने जोर देकर कहा कि मैं एक भाग्यवान् लड़की हूँ और उपेन्द्रनाथ को मुझे जरूर स्वीकार कर लेना चाहिए, जिससे वह बाद में धनवान् बन सकेगा। उपेन्द्र की माँ राजी हो गयीं। वे और उनके पति इस बात से प्रसन्न थे कि उनका बेटा दक्षिणेश्वर से, जहाँ वह ठाकुर के साथ रह रहा था, अपने घर लौट जाएगा तथा साथ में पुत्रवधू भी मिलेगी।

विवाह के पश्चात् नरेन्द्र हमारे यहाँ आया करते थे। जब विवाह तय हो गया, उसी बीच मुझे मालूम पड़ा कि मेरे साँवले रंग आदि के बारे में नरेन्द्र ने क्या कहा था, इसलिए मैं उनसे बहुत नाराज थी। जब कि हमारे घर आते, तो मैं उनका आतिथ्य-सत्कार न करती तथा जलपान की चीजें उनके पास नहीं ले जाती। मेरी माँ ने उनको बतलाया कि उन्होंने मेरे रंग को लेकर जो आपत्ति की थी उससे मैं नाराज हूँ। तब नरेन्द्र मेरे प्रति बहुत अच्छे हो गये और मुझे सान्त्वना दी।

जब मैं पितृगृह में थी, तब मेरी माँ ने मुझसे कहा कि मैं घर के भीतर ही रहूँ और अच्छा अच्छा खाऊँ, जिससे मेरा रंग निखर उठे। पर जब मेरी छोटी-छोटी सहेलियाँ आतीं और मुझे बुलातीं, तब उनके साथ खेलने के लिए दोपहर में, जब सब भोजनोपरान्त विश्राम करते होते, बाहर भाग जाती और उन लोगों के उठने से पूर्व लौट आती। पर एक दिन मुझे लौटने में देर हो गयी, सब लोग उठ गये थे। क्या करूँ? तब मैंने देखा ठाकुर आये हुए हैं और बैठकखाने में बैठे हुए हैं। मैंने मन ही मन सोचा—यदि मैं इनके पास जाकर बैठ जाऊँ, तो माँ को पता भी नहीं लगेगा और वे सोचेंगी कि मैं उन्हीं के पास बैठी थी। ठाकुर ने मुझे दाँतों से नाखून काटते हुए देखा, उन्होंने मुझे ऐसा करने से मना किया। फिर मुझसे पूछा, "मेरे बारे में तू क्या सोचती है? कुछ लोग कहते हैं कि मैं भगवान् स्वयं हूँ। उसके बारे में तेरा क्या विचार है?"

मैंने उत्तर दिया, "नहीं, नहीं, नहीं, तुम भगवान् नहीं हो, तुम मेरे पति के गुरु हो।" तब एकदम सहसा मुझे मधुर सुगन्ध मिली। वह देवी-देवताओं की पूजा में लगनेवाले अगरु की-सी सुगन्ध थी। मैंने सोचा, जैसा कि कई लोग कहते हैं कि ठाकुर साक्षात् ईश्वर हैं, तो कहीं उन्हीं से तो यह नहीं आ रही है। मैंने उसे खोज निकालने की कोशिश की और उनके कानो की तरफ देखा। जब मैं उनके बहुत करीब थी, तब सहसा ठाकुर के बाह्य रूप का लोप हो गया और उसकी जगह दिव्य

प्रकाश आलोकित हो उठा, जिसकी छटा सूर्योदय के समय के सूर्य के समान थी और उनका आकार उस प्रकाश-पुंज से बना दिखायी दे रहा था। मैं बोल उठी, "ठाकुर, ठाकुर, ऐसा तुम क्यों कर रहे हो ?" उनका बाह्य रूप लगभग लुप्त हो गया था। मैंने उनकी देह को छूकर देखना चाहा, पर नहीं छू सकी। मैंने उन्हें बार-बार पुकारा, पर उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया; इसलिए मैं बैठकर उनकी तरफ आतुरता से देखने लगी। मैं नहीं जानती ऐसा कब तक रहा। फिर कुछ समय पश्चात् प्रकाश मद्धम होता गया और मैं ठाकुर को पुनः ठीक से देख सकी। मैंने दूसरों को बुलाने की कोशिश की, पर लगा किसी ने कोई ध्यान नहीं दिया।

अपनी ससुराल में जब मैंने अपनी सास को यह सारी घटना बतलायी, तो उन्होंने मेरी बात समझ ली, उन्होंने उस पर विश्वास किया और मेरे पति भी बहुत खुश हुए। मेरी सास ने मुझसे कहा, "अब जब अगली बार तुम ठाकुर से भेंट करो, तो उनसे मन्त्र देने के लिए कहना।" उस समय मैं मन्त्र क्या होता है यह नहीं समझती थी। मैं सोचती थी कि कंगन आदि गहने-जैसी वह भी कोई उपहारवाली चीज होगी।

जब ठाकुर एक दिन फिर हमारे घर आये, तो मैंने उनसे कहा, "मेरी सास ने मुझसे कहा है कि तुम्हें मैं मन्त्र देने के लिए कहूँ।" मैं उनके पास बैठ गयी और "मुझे मन्त्र दो "मुझे मन्त्र दो" कहने लगी। आप स्मरण रखें कि उस समय मैं मात्र आठ साल की बच्ची ही थी। जब मैंने जोर दिया, तो ठाकुर ने मुझसे कहा, "ठीक है, तुझे मैं एक दूँगा। तूने शिवजी को देखा है ?"

मैंने कहा, "हाँ।"

उन्होंने कहा, "यदि वे तुझे अच्छे लगें तो उनसे प्रेम कर।" फिर पूछा, "तूने काली को देखा है ?"

मैंने उत्तर दिया, "हाँ"।

उन्होंने कहा "तुझे यदि वे अच्छी लगें, तो उनसे प्रेम कर।" फिर कहा, "क्या तूने कृष्ण को देखा है ?...राम ?...राम को कहाँ देखा है ?"

"अपनी माँ के यहाँ।" मैंने उत्तर दिया।

उन्होंने कहा, "यदि वे तुझे अच्छे लगते हों, तो उनसे प्रेम कर।" फिर कहा, "यदि तू मुझे चाहती है, तब मुझसे प्रेम कर।"

"हाँ मैं तुमसे प्रेम करती हूँ" मैंने उत्तर दिया। "मैं तुमको बहुत चाहती हूँ, परन्तु यदि तुमने मन्त्र नहीं दिया, तो मैं अपनी ससुराल नहीं लौटूँगी।" तब ठाकुर ने कहा, "अच्छा, ठीक है, तू अपनी सास के पास जाकर पूछ आ कि तुझे कौन सा मन्त्र दूँ। यदि मेरे पास होगा, तो मैं उसे दे दूँगा; नहीं तो मैं तुझे पैसे दे दूँगा, तू उससे वह खरीद लेना। देख, अभी मेरे पास कुछ नहीं है।" मैंने देखा कि उनकी जेब खाली थी। तब मुझे समझ में आया कि ठाकुर के पास अभी कुछ नहीं है। फिर भी मैंने उनसे कहा, "यदि तुम मुझे वह नहीं दोगे तो मैं अपनी ससुराल नहीं लौटूँगी।"

अपनी ससुराल लौटने पर मैंने अपनी सास को जो कुछ हुआ था, वह बतलाया। तब वे बहुत प्रसन्न हुई और कहने लगीं, "वही तो मन्त्र है।"

समय बीतता गया, मैं बड़ी हो गयी। फिर भी मैं ठाकुर से यह पूछने के लिए इच्छुक थी कि उन्हें उस दिन क्या हो गया था, जो मैंने उन्हें प्रकाशमय देखा था। मेरा कुतूहल बढ़ता जा रहा था, पर उनसे पूछने का उपयुक्त समय नहीं मिल पा रहा था। एक दिन मेरे ससुरजी मुझे दक्षिणेश्वर लेकर गये और ठाकुर ने मुझे श्री माँ (सारदा देवी) के पास कुछ दिन के लिए छोड़ जाने को कहा। तब मैंने अपने मन में निश्चय किया कि अब उचित अवसर ढूढ़कर अपने प्रश्न को पूछूँगी। पर मैं

ठाकुर से बात नहीं कर पायी, क्योंकि वे प्राय, सब समय भक्तों से घिरे होते। शाम को वे कालीमन्दिर जाते और सन्ध्यारती देखते। एक दिन जब वे वहाँ थे, तब मैं उनके कमरे में जाकर बैठ गयी और अपना प्रश्न पूछने के लिए प्रतीक्षा करने लगी। मन्दिर से लौटने के बाद वे मेरे पास आकर बैठ गये। पर इससे पहले कि मैं पूछ पाती, मैंने फिर उनके बाह्य रूप को दिव्य ज्योति में लुप्त होते देखा। मैंने उन्हें बार-बार छुआ, पर कुछ नहीं हुआ। उनकी देह बहुत मुलायम थी, मानो उसमें हड्डियाँ न हों। इसके बाद मेरा बाह्य ज्ञान लुप्त हो गया और मेरा सिर उनकी गोद में गिर पड़ा। जब मुझे होश आया, तब देखा ठाकुर मेरी पीठ पर हाथ फेर रहे हैं। मैं कह उठी, "ठाकुर, तुम कौन हो? क्या तुम भगवान् हो? क्या तुम कृष्ण हो? क्या तुम राम हो? तुम कौन हो, ठाकुर?" तब उन्होंने मुझे पीने के लिए कुछ जल दिया।

(विवेक ज्योतिः वर्ष १९ अंक ४ से साभार)

विवेक शिखा—स्थायी कोष के दाता

११. श्री रामलायक सिंह	—	सम्होता (छपरा)	२५ रुपये
१२. डा० एस पी० भार्गव	—	अजमेर	१०० रुपये
१३. श्री राम छविला सिंह	—	मुजफ्फरपुर	२५ रुपये
१४. श्री निखिल शिवहरे	—	दमोह (म० प्र०)	१५१ रुपये
१५. श्रीमती उषारानी कर्ण	—	सुरसंड, (सीतामढ़ी)	१०० रुपये
१६. श्री पी० सी० सरकार	—	नरेन्द्रपुर (प० बं०)	१०० रुपये
१७. श्रीमती मीरा मित्रा	—	इलाहाबाद	२०१ रुपये
१८. श्री गोपाल शं० तायवाडे	—	अमरावती (महाराष्ट्र)	१०० रुपये
१९. श्री महादेव शि० गुंडावार	—	भद्रावती (महाराष्ट्र)	५० रुपये
२०. श्री राजीव कुमार राजू	—	सैदपुर, पटना-४	३१ रुपये
२१. श्री राज सिंह	—	गाजियाबाद (उ० प्र०)	५० रुपये
२२. श्री चन्द्र मोहन	—	टुण्डला (उ० प्र०)	९८५ रुपये
२३. श्री के० अनूप	—	अरुणाचल प्रदेश	२० रुपये
२४. श्री शतदल खान	—	सोनारपुर(पश्चिम बंगाल)	१०० रुपये
२५. श्री ए० जी० ठगांवकर	—	यवतमाल	५१ रुपये
२६. श्री शतदल साधुखान	—	सोनपुर २४ परगना	

निवेदन— १. स्थायी कोष के लिए दान सम्पादकीय पते पर भेजने की कृपा करें।
२. चेक या ड्राफ्ट "विवेक शिखा" के नाम से भेजें।

स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण

—स्वामी सदाशिवानन्द

स्वामीजी को देखने के लिए प्रायः एक चिकित्सक आया करते थे। वैद्य महाशय का देश में नवविकसित एक धर्म विज्ञान की तरफ विशेष झुकाव था। वे इसके संस्थापक के सम्बन्ध में बोलते गये; किस प्रकार यह देश की आध्यात्मिक सेवा कर रहा है तथा उन्होंने यह भी कहा कि यही एकमात्र भारत की सही एवं तर्कसंगत संस्था है। स्वामीजी बिना किसी प्रकार की आलोचना तथा विरोध के सारी बातें सुनते गये। इससे चिकित्सक महोदय और भी ढीठ होकर, कट्टरतापूर्वक इस दिशा में बोलते रहे।

क्रमशः स्वामीजी के चेहरे के भाव बदल गये उनकी मुखाकृति दृढ़ एवं कठोर हो गयी। अचानक उनके मुख से शब्दों की बारिश होने लगी। आवाज गंभीर, कम्पनयुक्त तथा बिल्कुल आदेशात्मक थी। मानो अब एक दूसरा ही व्यक्ति चिकित्सक से बात कर रहा हो और चिकित्सक आश्चर्यित सुन रहा था: "इस देश में प्रत्येक क्षेत्र में विदेशी हमारा गुरु हो गया है। केवल धर्म बचा हुआ था, किन्तु इसमें भी तुम उनकी प्रमुखता दे रहे हो। तुमलोगों ने यूरोप को अपना गुरु बना लिया है और खुद उसके सम्मोहित गुलाम बन चुके हो। क्या तुम यह सोचते हो कि भारत इतना नीचे गिर चुका है कि तुम्हें धर्मगुरु को भी बाहर से ही लाना पड़ेगा? क्या यह गौरव की बात है? या इसके लिए तुम्हें शर्म होनी चाहिए? मैं यहां भाषण करने नहीं आया हूँ। मैं बीमार हूँ, शान्ति तथा विश्राम चाहता हूँ।" स्वामीजी की आवाज और ऊँची हो गयी। अपनी चमकीली गुलाबी, बड़ी आँखों को उस आलोचक पर टिकाते हुए उन्होंने कहा, "यदि मैं चाहूँ तो इसी रात पूरे बनारस को तथा तुम्हारे प्रिय संप्रदाय के संस्थापक को, अपने चरणों के समक्ष ला खड़ा कर सकता हूँ, लेकिन मैं बगैर जरूरत के दैवी शक्ति का दुरुपयोग नहीं करना चाहता हूँ, इसलिए कुछ नहीं किया है।" कुछ ही देर पूर्व जो चिकित्सक स्वामी जी को आध्यात्मिक रूप से साधारण स्तर से ऊँचा नहीं मान रहे थे; उनकी बातों का समर्थन करते हुए बोले, "हाँ, महाराज! अमुक व्यक्ति आपके पास नहीं आया—यह निःसंदेह खेद की बात है।" इससे स्वामीजी थोड़ा नाराज हो गये थे जिससे पुनः झिड़कन पड़ी।

चिकित्सक ने अपना विषय बदल दिया और स्वामीजी तत्क्षण शान्ति की मुद्रा में आ गये। पुनः हमलोग शान्तचित्त संन्यासी को देख रहे थे जो चतुर्दिक शान्ति बिखेड़ रहे थे, मानो कुछ हुआ ही न हो।

सुविख्यात देशभक्त केलकर उन दिनों वाराणसी में थे। एक दिन संध्या बेला में वे स्वामीजी से मिलने आये। स्वामी जी बिस्तर पर लेटे हुए थे, क्योंकि उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं था। केलकर महोदय स्वामीजी के प्रति पूरी श्रद्धा व्यक्त करते हुए कमरे में आये जैसा कोई अपने गुरु अथवा किसी बड़े संत के प्रति करता है। फर्श पर चटाई बिछी थी; वहीं एक आसनी पर वे बैठ गये। वार्त्तालाप

अंग्रेजी में प्रारंभ हुआ। हमलोग कुछ दूर हटकर बैठे थे, अतः बातचीत के सारे अंश सुनाई नहीं पड़ रहे थे। हमने देखा कि स्वामीजी लेटे-लेटे मृदु स्वर में बात कर रहे हैं। शीघ्र ही वे जोश में आ गये और पलंग पर उठ कर बैठ गये। अब वे एक स्वस्थ व्यक्ति की तरह बात करने लगे। धीरे-धीरे वे अधिक भावुक होते गये, आँखें फैलती गयीं, होठ संकुचित एव कठोर होकर काँपने लगे। विशाल ललाट पर अनेक रेखाएँ उभर आयीं, भृकुटी तन गयीं और मुखमंडल लाल हो गया। श्रुतिमधुर आवाज काफी ऊँची एवं कम्पन युक्त हो गई और उनकी प्रसुप्त शक्तियाँ पूरी तरह जाग्रत हो गयी। केलकर महाशय के लिए यह बिल्कुल नयी बात थी। वे न केवल इस परिवर्तन को देखकर आश्चर्यित थे, बल्कि एकदम सम्मोहित बैठे रहे, जैसे जैसे स्वामीजी अधिक से अधिक वाग्मितापूर्ण एवं भावपूर्ण होते गये।

वार्त्तालाप का विषय था—भारत तथा उसकी दुर्गति। राजनीति, समाज सुधार तथा कई अन्य विषयों पर बातचीत हुई। "भारत का इस तरह चरम निर्धनता एवं अधोगति में अधिक दिन जीने से क्या लाभ? वे गरज कर बोले, "प्रतिक्षण वह नाटकीय यंत्रणा झेल रहा है। अन्नाभाव एवं वस्त्राभाव, उसके भाग्य में केवल दुःख तथा अपमान ही बदा हुआ है। वह किसी तरह साँस ले रहा है—यही एक मात्र उसका जीवन चिह्न है। यह साक्षात नरकाग्नि है, जिसमें वह धीरे-धीरे किन्तु निश्चित रूप से दग्ध होता जा रहा है। क्या उसके लिए यह अधिक अच्छा नहीं होता कि धरती के मुखमंडल पर से वह सदा के लिए मिट जाता?"

वे इस लहजे में बोलते चले गये। हमलोग साँस थामे उनकी बातें सुनते रहे तथा भारत के लिए वे जो अपने हृदय में घोर वेदना महसूस कर रहे थे, उसे देखकर हम आश्चर्यित थे। वे एक सच्चे संत तथा सच्चे देशभक्त थे। क्या उन्होंने ही नहीं कहा था—"मैं उसे महात्मा कहता हूँ जिसका हृदय निर्धनों के लिये दुःखी होता है।" उनके सम्बन्ध में यह बात अक्षरशः सत्य थी। क्योंकि उनकी दुःखानुभूति इतनी मर्मस्पर्शी थी कि वे अपनी आत्मविश्रांति तथा यहां तक कि अपनी बीमारी तक को भूल गये। उन्होंने केलकर से कहा कि मात्र राजनीति तथा इस तरह विदेशी राष्ट्रों की नकल से कोई लाभ नहीं होगा और न अन्य देशों की हृदयविहीन राजनीति हमारे लिये कुछ सहायक हो सकेगी। प्राचीन आदर्शों का अनुसरण करते हुए केवल अन्दर से स्वाभाविक विकास ही भारत को उन्नत बना सकता है। उन्होंने अंतिम बिन्दु पर विशेष जोर दिया तथा इस पर केलकर साहब के साथ विस्तृत रूप से चर्चा की! उन्होंने यह भी कहा कि अन्य नये प्रयास तथा प्रयोग की अपेक्षा केवल धर्म के माध्यम से सभी प्रकार के समाज सुधार तथा अन्य विकास के कार्य सुगमता पूर्वक संपन्न किये जा सकते हैं। धर्मविहीन राजनीति या समाज सुधार भारत के लिए अधिक लाभकारी प्रभावशाली तथा चिरस्थायी नहीं हो सकेंगे। केलकर महोदय इन बातों को सुनकर काफी प्रभावित जान पड़े तथा हाथ जोड़कर श्रद्धा निवेदित करते हुए उन्होंने विदा ली।

स्वामीजी का व्यक्तित्व अत्यंत ही प्रभावशाली था। एक तरफ वे किसी भी प्रकार की गलती एवं अन्याय पर पूरी शक्ति से आक्रमण करते थे तथा झपटकर उस दोष अथवा बुराई को जड़ सहित उखाड़ फेंकने की कोशिश करते तो दूसरी तरफ उनका हृदय अत्यंत ही कोमल था। एक बार उन्होंने कहा था, "क्या यह संभव है कि ताजा दूहे गये दुग्ध-फेन से अंगुली कट जाय? मैं कहता हूँ कि यह भी संभव है। किन्तु श्री राधा का हृदय उससे भी कोमल था।"

एक दिन प्रातः जलपान के बाद कुछ लोगों के साथ वे दार्जिलिंग की एक सड़क पर टहलते हुए

पहाड़ी सौंदर्य का आनन्द ले रहे थे। अकस्मात् उनकी दिव्य दृष्टि के समक्ष एक दृश्य आया—एक भोटिया स्त्री पीठ पर लकड़ी का भारी बोझ लिये जा रही है। वह अचानक फिसलकर गिर जाती है और उसे कुछ चोट भी आयी है। उनके साथ चल रहे लोगों ने कुछ भी नहीं देखा। उनके सेवक गण युवक एवं अनुभव रहित थे। वे स्वामीजी की अतिचेतन अवस्था उन्मुख मनःस्थिति से परिचित नहीं थे। स्वामीजी की आँखें दूर की किसी वस्तु पर केन्द्रित थीं। वे तिलमात्र भी आगे नहीं बढ़े। उनका चेहरा पीला पड़ गया और वे दर्द से कराह उठे—"मुझे यहाँ काफी दर्द हो रहा है, मैं और आगे नहीं चल सकता।" किसी ने पूछा, "कहाँ दर्द हो रहा है, स्वामीजी?" वे अपनी बगल में दिखाते हुए बोले, "यहाँ पर। क्या तुमने उस स्त्री को गिरते नहीं देखा!" युवक लोग कुछ समझ नहीं सके। उन्हें यह कुछ विचित्र सा लगा कि उन्हें दर्द क्यों हो रहा है? पर किसी को कुछ पूछने का साहस न हुआ। बाद में चलकर वे इस घटना के मर्म को समझ सके कि मनुष्य-मनुष्य के बीच अत्यन्त अनुसंवेदी सम्बन्ध वर्त्तमान है और इसी के सहारे योगी पुरुष दूरस्थ लोगों की अनुभूति को स्वयं दिव्यदृष्टि से देख पाते हैं तथा अनुभव कर पाते हैं।

स्वामीजी के वाराणसी आने के तीन वर्ष पूर्व ही हमलोगों ने चारु बाबू तथा अन्य लोगों की सहायता से एक संस्था की स्थापना की थी। हमारी संस्था का उद्देश्य था—स्वामी विवेकानन्द तथा श्रीरामकृष्ण के साहित्य का अध्ययन करना, उस पर परिचर्चा करना तथा कर्मयोग पर विशेष जोर देते हुए सेवा कार्य करना। हमलोगों में से कुछ युवक लोग एक जगह एकत्रित होकर जप-ध्यान, पूजा आदि करते। दरिद्र एवं दुखी लोगों की सेवा करते हुए अपने जीवन को उच्चादर्श के अनुसार ढालने की कोशिश करते थे। धीरे-धीरे वाराणसी के अनेक प्रमुख लोग इस कार्य में सहायता करने लगे और हमारा कार्य विस्तृत होता चला गया, हमलोगों ने इसका नाम रखा—"दरिद्र जन राहत संघ"।

हमलोग दो वर्षों तक संघर्ष करते रहे। तीसरे वर्ष स्वामीजी के व्यावहारिक वेदान्त से प्रेरित होकर हमने इसे पुनः संगठित किया तथा इसका नया नाम रखा—"दरिद्र नारायण सेवा समिति।" एक वर्ष तक इस तरह सेवा कार्य करने के बाद स्वामीजी वाराणसी आये और उन्होंने हमलोगों को शिष्य के रूप में स्वीकार किया। स्वामीजी ने चारु बाबू के भीतर अपनी शक्ति संचारित कर कहा कि अपनी सारी ऊर्जा विशेषकर इस प्रकार के कार्य में लगा दो। उन्होंने हमलोगों से अनेक बार कहा, "तुम्हें यह ध्यान रखना चाहिए कि निर्धन जनता का एक-एक पैसा उसके खून के एक-एक कतरा के समान है। राहत संगठनों द्वारा किस तरह तुमलोग उनके दुःख को कम कर सकते हो? दिखावटी ढंग से आगे मत बढ़ो। इसका नाम 'रामकृष्ण सेवाश्रम' रखो तथा इसके संपूर्ण संचालन के लिए इसे रामकृष्ण मिशन को दे दो।' हमलोगों ने वैसा ही किया और इस प्रकार से सेवाश्रम की स्थापना हुई।

हिन्दुओं के मध्य यह प्रथा है कि वृद्धावस्था में लोग काशीवास करते हैं। वे प्रण करके काशी आते हैं कि मृत्युपर्यन्त नगर से बाहर न निकलेंगे। पंडित शिवानन्द नाम के बंगाल के एक साधारण जमींदार जो कि संस्कृत दर्शन के अगाध पंडित थे तथा जिन्होंने साधना में भी ऊँची अवस्था प्राप्त की थी, ऐसे ही प्रण के साथ काशी पधारे थे। वे विशाल हृदय तथा उदार दृष्टिकोण वाले व्यक्ति थे। हमलोग उनके वाराणसी आगमन के प्रारम्भ से ही परिचित थे और वे हमारे 'दरिद्रजन राहत संघ' के प्रारम्भिक संरक्षकों में से थे।

वे स्वामीजी के उपदेशों के समर्थन में प्रायः शास्त्रों से वाक्य उद्धृत किया करते थे और बोलते,

"मैंने पवित्र वाराणसी नगरी न छोड़ने का प्रण किया है और स्वामीजी कलकत्ता में रहते हैं। क्या वे एक बार वाराणसी नहीं आयेंगे ?" स्वामीजी १९०२ ई० के प्रारंभ में यहाँ पधारे। पंडितजी उनसे मिलने के लिए आये। प्रथम भेंट में ही वे अत्यंत आनन्दित हुए तथा स्वामीजी उनके मित्र बन गये। उनके बीच प्रायः वार्ता का विषय रहता था—'श्री रामकृष्ण तथा उनकी अद्भुत आध्यात्मिक अवस्था।' रामकृष्णदेव के भावों का वर्णन करते-करते स्वामीजी के भीतर से अनजाने वे भाव प्रस्फुटित हो जाते थे।

कभी कभी पंडितजी शास्त्र के विभिन्न विषयों पर विवेचन करने लगते। स्वामीजी भी प्रायः बातों का रुख अपने प्रिय विषय—कर्म एवं सेवा की तरफ मोड़ देते। स्वामीजी ने इस निष्ठावान ब्राह्मण जो कि वाराणसी के पंडितों जैसे थे और जो सनातन हिन्दू धर्म पर अधिक जोर देते थे, पर अपने विचारों की गहरी छाप अंकित कर दी।

पंडितजी ने संस्कृत में एक मानपत्र कलकत्ता में छपवाया था; परन्तु प्रायः वे इसे साथ लाना भूल जाते थे। वे अत्यन्त भाव विह्वल होकर स्वामीजी से मिलने जाते। एकदिन वे मानपत्र साथ में लेकर स्वामीजी से मिलने जा रहे थे। चारु बाबू तथा मैं उनके साथ हो गये। हमलोगों ने उनसे पूछा, "पंडितजी, स्वामीजी के सम्बन्ध में आपकी क्या राय हैं ? उन्होंने तत्क्षण कहा, "वे एक सच्चे योगी हैं इसलिए मैं प्रतिदिन उनसे मिलने जाता हूँ। मुझे पूर्ण विश्वास है कि भाषण तथा उपदेश जिनके कारण उन्हें उतनी प्रसिद्धि प्राप्त हुई है, वे उनकी चेतना को ऊर्ध्वोन्मुखी कर देने वाली शक्ति की तुलना में निश्चय ही अनुषंगी है, गौण हैं। उनके भीतर दैवी शक्ति का लीला विलास है और उसकी बाह्य अभिव्यक्ति बहुत कम ही हुई है। उनकी शक्ति तथा महानता के सम्बन्ध में कोई मतामत देना असंभव है—वे असीम सिन्धु की भाँति है।"

रास्ते में हमने देखा कि स्वामीजी एक दूसरी गाड़ी में स्वामी शिवानन्द, स्वामी गोविन्दानन्द एवं अन्यान्य स्वामियों के साथ 'भिगा महाराज' के राजभवन की तरफ जा रहे थे। दोनों गाड़ियाँ रुक गयी। पंडितजी ने थोड़ी घबराहट के साथ अपना मानपत्र स्वामीजी को दिया। स्वामीजी एक ही नजर में मानपत्र का आशय समझकर अत्यंत नम्रता पूर्वक बोले, "पंडितजी, आप यह क्या करते हैं। मैं तो एक साधारण व्यक्ति हूँ। इतनी ऊँची प्रशंसा तथा गुणानुवाद हमारे योग्य नहीं है। मैंने तो कुछ नहीं किया है। यह तो मात्र प्रभु की इच्छा है। वे साधारण मनुष्य को भी अपना यंत्र बनाकर उससे अपना इच्छित कार्य करवा सकते हैं।"

इसके बाद यह देखा गया कि पंडित शिवानन्द वाराणसी के संस्कृत के बड़े-बड़े विद्वानों के बीच स्वामीजी के सम्बन्ध में प्रायः चर्चा किया करते थे। इस तरह से अनेक सनातनी पंडितों—जैसे कि महामहोपाध्याय राखालदास न्यायरत्न को स्वामीजी के भीतर वर्तमान ईश्वरत्व के सम्बन्ध में विश्वास हुआ। जिस तरह चुम्बकीय आकर्षण से चुम्बकीय पदार्थ खिंचा चला आता है, पंडितजी उसी तरह स्वामीजी से आकर्षित हुए थे। वे दोनों अभिन्न मित्र बन गये। चूँकि वे वाराणसी से बाहर नहीं जा सकते थे, स्वामीजी उन्हें आशीष देने के लिए वाराणसी आये हैं—ऐसा पंडितजी का आंतरिक विश्वास था।

विवेक चूड़ामणि

भाष्य—स्वामी वेदान्तानन्द
अनुवादक—डॉ० आशीष बनर्जी

शिष्य उवाच

मिथ्यात्वेन निषिद्धेषु कोशेष्वेतेषु पञ्चसु ।
सर्वाभावं विना किञ्चिन्न पश्याम्यत्र हे गुरो ।
विज्ञेयं किमु वस्त्वस्ति स्वात्मनाऽऽत्मविपश्चिता ॥२१२॥

शिष्य—हे गुरो, पाँचो कोश का मिथ्या होना एवं वे आत्मा नहीं है यह निर्णय हो जाने के फलस्वरूप मुझे अपने अन्दर एवं स्थूल तथा सूक्ष्म जगत में सर्वाभाव के अतिरिक्त और कुछ भी प्रतीत नहीं होता है अतएव आत्म विचारशील व्यक्ति को अपने आत्मस्वरूप में सत्यवस्तु रूप में ज्ञेय कोई वस्तु है या नहीं ?

शिष्य के उक्त प्रकार के संशय को दूर करने हेतु गुरु कहते हैं—पंचकोश मिथ्या प्रमाणित होने पर भी इसके भाव तथा अभाव का साक्षी शुद्ध आत्मा नित्य वर्त्तमान रहता है ।

श्री गुरुरुवाच

सत्यमुक्तं त्वया विद्वन्निपुणोऽसि विचारणे ।
अहमादि विकारास्ते तद्भावोऽयमप्यनु ॥२१३॥
सर्वे येनानुभूयन्ते यः स्वयं नानुभूयते ।
तमात्मानं वेदितारं विद्धि बुद्ध्या सुसूक्ष्मया ॥२१४॥

श्री गुरु बोले—हे बुद्धिमान शिष्य तुमने ठीक ही कहा । तुम विचार में निपुण हो गये हो । यह अहं आदि विकार समूह, यह सब कुछ ज्ञान गोचर विषय, जाग्रत-काल में (जब उसका प्रकाश दिखाई देता है तब भी) एवं बाद में सुषुप्ति काल में (जब उनका अभाव होता है, प्रकाश नहीं रहता, तब भी) जिनके द्वारा अनुभूत होता है, परन्तु जो स्वयं अन्य किसी की अनुभूति का विषय नहीं होता है, सूक्ष्म बुद्धि की सहायता से तुम उस ज्ञाता आत्मा को जानो । २१३-१४

विज्ञाता आत्मा को विषय रूप में जानना सम्भव नहीं, अपने स्वरूप से आत्मा अभिन्न है यह उपलब्धि करो—यही उपदेश दिया गया । आत्मदर्शन का उपाय श्रुति में इस प्रकार कहा गया है—

'एषः सर्वेषु भूतेषु गूढ़ आत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥'

कः उ० १/३/१२

'यह पुरुष सभी जीवो में अविद्यामाया द्वारा आच्छन्न रहने के कारण अज्ञ जीवों के निकट आत्मरूप में प्रकाशित नहीं होता है । किन्तु एकाग्र एवं सूक्ष्मबुद्धि की सहायता से मेधावी व्यक्तिगण आत्मा का दर्शन करते हैं ।'

ज्ञाता एवं द्रष्टा आत्मा यदि सर्वकाल न होता तो किसी भी विषय का ज्ञान सम्भव न होता । सुषुप्तिकाल में किसी भी विषय का ज्ञान नहीं होता; परन्तु उस काल के शुरू की स्मृति आत्मा के नित्य वर्त्तमान रहने के कारण अनुभव होती है । स्थिति के बिना परिणाम की कल्पना सम्भव नहीं । नित्यस्थिर आत्मा को आश्रय करके ही चंचला प्रकृति विचित्र लीला विलास करती है ।

तत्साक्षिकं भवेत्तत्तद्यद्येनानुभूयते ।
कस्याप्यननुभूतार्थे साक्षित्वं नोपयुज्यते ॥२१५॥

किसी विषय को यदि किसी ने देखा है तो कहा जा सकता है कि वह उस विषय का साक्षी है । परन्तु यदि किसी विषय को उस व्यक्ति ने नहीं देखा, वह उस

विषय का साक्षी नहीं हो सकता है। २०५

आत्मा विषय न होने के कारण 'आत्मा इस प्रकार का अथवा आत्मा इस प्रकार का नहीं है' यह प्रमाणित नहीं किया जा सकता है।

असौ स्वसाक्षिको भावो यतः स्वेनानुभूयते।
अतः परं स्वयं साक्षात्प्रत्यगात्मा न चेतरः ॥२१६॥

जिस कारण यह आत्मा स्वयं ही स्वयं का साक्षी है, क्यों कि यह स्वयं के द्वारा ही अनुभूत होता है, इस कारण जीवात्मा ही साक्षात परब्रह्म है; जीवात्मा परमात्मा से भिन्न और कुछ नहीं है। २१६

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु स्फुटतरं योऽसौ समुज्जृम्भते
प्रत्यग्रूपतया सदाहमहमित्यन्तः स्फुरन्नैकधा।
नानाकारविकारभागिन इमान पश्यन्नहंधीमुखान्
नित्यानन्दं चिदात्मना स्फुरति तं विद्धि स्वमेतं हृदि ॥२१७॥

जो प्रत्यमात्मा रूप में 'मैं-मैं' इस प्रकार बहुत प्रकार से सभी के अन्तर में प्रकाशित होकर जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति काल में विशेष प्रकार से प्रकाशित होता है एवं विविध रूप में परिणाम शील अहंकार, बुद्धि आदि के स्वयं द्रष्टा रूप में वर्त्तमान रहकर नित्य आनन्द एवं चैतन्य रूप में स्वयं को प्रकाशित करता है, उसको अपनी आत्मा ही जानो। २१७

घटोदके बिम्बितमर्कबिम्बमालोक्य मूढो रविमेव मन्यते।
तथा चिदाभासमुपाधि संस्थं भ्रान्त्याहमित्येव जडोऽभिमन्यते ॥२१८॥

घड़े के जल में प्रतिबिम्बित् सूर्य की छाया को अज्ञ-व्यक्ति जिस प्रकार सत्य सूर्य ही समझता है, विचार शक्ति रहित जड़बुद्धि व्यक्ति भी उसी प्रकार बुद्धि आदि उपाधि में प्रकाशित शुद्ध चैतन्य के प्रतिबिम्ब को 'यह मैं ही हूँ' ऐसा मान बैठता है। २१८

घटं जलं तद्गतमर्कबिम्ब विहाय सर्वं विनिरीक्ष्यतेऽर्कः।
तटस्थ एतत्त्रितयावभासकः स्वयंप्रकाशो विदुषा यथा तथा ।२१९॥

विचारशील व्यक्ति जिस प्रकार घट, घटमध्यस्थ जल एवं जल में प्रतिबिम्बित सूर्य की छाया, इन तीनों में से कोई भी सूर्य नहीं है इस कारण इनका त्याग करता है एवं इन तीनों उपाधि के प्रकाशक परन्तु उपाधि से सर्वथा भिन्न स्वयं प्रकाश सूर्य का दर्शन करता है—२१९

देहं धियं चित्प्रतिबिम्बमेवं विसृज्य बुद्धौ निहितं गुहायाम्।
द्रष्टारमात्मानम खण्ड बोधं सर्वप्रकाशं सदसद्विलक्षणम् ॥२२०॥

नित्य विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्म-मन्तर्बहिः शून्यमनन्यमात्मनेः।
विज्ञाय सम्यङ् निजरूपमेतत् पुमान विपाप्मा विरजो विमृत्युः ॥२२१॥

विशोक आनन्द घनो विपश्चित् स्वयं कुतश्चिन्न विभेति कश्चित्।
नान्योऽस्तिपन्था भवबन्धमुक्तेर्विना स्वतत्वावगमं मुमुक्षोः ॥२२२॥

इस प्रकार देह, बुद्धि एवं बुद्धि में प्रतिबिम्बित चित-इन तीनों में कोई भी आत्मा नहीं है—ऐसी धारणा करके बुद्धि के अभ्यन्तर अवस्थित द्रष्टा, नित्यज्ञानस्वरूप सर्वव्यापी, सर्वगत, सुसूक्ष्म, सर्वविध-भेदवर्जित, निज आत्मा से अभिन्न इस अपने स्वरूप को यथार्थ रूप से जान कर आत्मज्ञ पुरुष निष्पाप, चान्चल्य रहित एवं मरण रहित हो जाता है। इस प्रकार कोई कोई अधिकारी पुरुष शोक रहित, आनन्द स्वरूप एवं विद्वान होकर और किसी से भयग्रस्त नहीं होता है। मुमुक्षु व्यक्ति के लिए आत्मस्वरूप के ज्ञान से भिन्न भवबन्धन से मुक्ति का और कोई मार्ग नहीं है। २२०-२२

सभी वस्तु आत्मा में अध्यस्त हो कर प्रकाशित होने के कारण आत्मा सर्वप्रकाश है।

'विभु' अर्थात् व्यापनशील होने के कारण 'सर्वगत' है; आत्मा में अध्यस्त सभी वस्तु में समभाव में वर्त्तमान रहता है।

विशोक—शोक का मूल अविद्या है; अविद्या का नाश होने के फलस्वरूप शोकरहित है।

कश्चित विपश्चित—'कोई विद्वान'; इस पदद्वय के व्यवहार के द्वारा यह समझाते हैं कि, आत्मज्ञान के लिए वर्ण—आश्रमादि की अपेक्षा नहीं है; उपयुक्त साधन सम्पन्न व्यक्ति मात्र आत्म-ज्ञान का अधिकारी होता है।

ऊपर के श्लोको में उल्लेखित श्रुति वाक्य समूह :

'सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरं नित्यां तत् त्वमेव त्वमेव तत्।' कैवल्य, १६

'सूक्ष्म से सूक्ष्मतर वह आत्मा तुम ही हो, और तुम ही वह आत्मा हो।'

'तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्।' बृ:, २/५/१९

यह आत्म रूप ब्रह्म पूर्वभावी कारणविहीन, परभावी कार्यविहीन, स्वगत-स्वजातीय विजातीय भेदविहीन है।'

'आनन्दं ब्रह्मनः विद्वान् न विभेति कदाचन।' तै:, २/४

'ब्रह्मरूप आनन्द को जानने के फलस्वरूप फिर कभी भय नहीं होता है।'

ब्रह्माभिन्नत्वविज्ञानं भवमोक्षस्य कारणम्।
येनाद्वितीयमानन्दं ब्रह्म सम्पद्यते बुधैः ॥२२३॥

ब्रह्म से आत्मा का अभेद ज्ञान ही संसार बंधन से मुक्ति लाभ का उपाय है। इस अभेद ज्ञान की सहायता से विचार शील व्यक्तिगण अद्वितीय आनन्द स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। २२३

ब्रह्मभूतस्तु संसृत्यै विद्वान्नावर्तते पुनः।
विज्ञातव्यमतः सम्यग्ब्रह्माभिन्नत्वमात्मनः ॥२२४॥

ब्रह्मभाव प्राप्त विज्ञान पुनः संसार में वापस नहीं आता है। अतः सम्यक् रूप से ब्रह्म का आत्मा से अभेद ज्ञान का साधन करना परम कर्त्तव्य है।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म विशुद्धं परं स्वतःसिद्धम्।
नित्यानन्दैकरसं प्रत्यभीमन्नं निरन्तरं जयति ॥२२५॥

सत्य-ज्ञान-अनन्तस्वरूप, विशुद्ध, श्रेष्ठ, स्वयं प्रमाण, नित्यानन्द स्वरूप. जीवात्मा का स्वरूपभूत एवं भेदरहित ब्रह्म स्वप्रकाश होता है। २२५

सदिदं परमाद्वैतं स्वस्मादन्यस्य वस्तुनोऽभावात्।
न ह्यन्यदस्ति किञ्चित् सम्यक् परमार्थतत्वबोध-दशायाम् ॥२२६॥

आत्मा से भिन्न और कोई वस्तु ही नहीं है इस कारण यह आत्मा ही श्रेष्ठ एवं अद्वितीय सत्ता है। (इसका प्रमाण)—ब्रह्मानुभूति के समय स्वतन्त्र सत्ता विशिष्ट एवं आत्मा से भिन्न द्वितीय कोई वस्तु की सत्ता ही नहीं रहती हैं। २२६

आत्मा से भिन्न कोई वस्तु ही नहीं है, इस विषय में श्रुति प्रमाण-'मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन। मृत्योः स मृत्युं गच्छति य ईह नानेव पश्यति॥'

क:, २/१/११

'शुद्ध मन के द्वारा ही इस ब्रह्म की उपलब्धि होती है। इस ब्रह्म में अणुमात्र भी भेद नहीं है। जो इस में भेद दर्शन करता है, वह बार-बार जन्म के अधीन होता हैं।'

यदिदं सकलं विश्वं नानारूपं प्रतीतमज्ञानात्।
तत्सर्वं ब्रह्ममेव प्रत्यस्ताशेषभाव ना दोषम् ॥२२७॥

अज्ञानवश जगत की सभी वस्तुएँ हमारे समक्ष नानां रूपों में प्रकाशित होती हैं, जो सभी हमारी चिन्ता तथा कल्पनाओं के दोषों से मुक्त, तथा एक अद्वय ब्रह्म वस्तु के अतिरिक्त कुछ नहीं है। २२७

जगत को हम वैचित्र्य मय देखते हैं। यह एक अद्वय वस्तु कैसे हो सकता है ?—

मृत्कार्यमृतोऽपि मृदो न भिन्नः कुम्भोऽस्ति सर्वत्र तु मृत्स्वरूपात्।
न कुम्भरूपं पृथगस्ति कुम्भः कुतो मृषा कल्पितनाम मात्रः ॥२२८॥

कुम्भ (घड़ा) मिट्टी से उत्पन्न होकर नाना आकार में प्रकाशित होने पर भी मिट्टी से भिन्न नहीं होता है; बल्कि मिट्टी ही है। स्वरूपतः मिट्टी से भिन्न 'कुम्भ' नाम का पदार्थ जगत में है ही नही। मिट्टी से बनी कुम्भ नाम की जो वस्तु है उसका यथार्थ अस्तित्व कहां हैं? वह मिथ्या नाम मात्र है। २२८

श्रुति में कहा गया है, 'यथा सौम्येकेन मृतपिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्मनं विकारनामधेयं मृतिकेत्येव सत्यम्।' छा० ६/१/८—[अरुण ऋषि अपने पुत्र स्वेत केतु को कह रहे हैं] 'हे सौम्य, मिट्टी के पिण्ड को जानने से मिट्टी का परिणाम स्वरूप समस्त वस्तुओं को जाना जा सकता है, क्योंकि विकार मात्र वाक्य को आश्रित कर स्थित, मिट्टी ही सत्य है।'

नाम और रूप मिथ्या है। जो अद्वय वस्तु को आश्रित कर यह नाम और रूप प्रकाशित होता है, केवल वही वस्तु ही सत्य है। उस वस्तु को वाक्य द्वारा प्रकाशित नहीं किया जा सकता है; अशुद्ध मन द्वारा प्रकाशित नहीं होता है।

केनापि मृद्भिन्नतया स्वरूपं घटस्य संदर्शयितुं न शक्यते।
अतो घटः कल्पित एव मोहान्मृदेव सत्यं परमार्थभूतम् ॥२२९॥

कोई भी मृत्तिका से भिन्न घट के अस्तित्व को प्रमाणित करने में समर्थ नहीं होता है। अतः घट अज्ञान द्वारा ही कल्पित है। घट का उपादान मिट्टी ही (घट की तुलना में स्थायी) सत्य वस्तु है। २२९

सद्ब्रह्मकार्यं सकलं सदेवं तन्मात्रमेतन्न ततोऽन्यदस्ति।
अस्तीति यो वक्ति न तस्य मोहो विनिर्गतो निद्रितवत्प्रजल्पः ॥२३०॥

जगत की सभी वस्तुएँ सत्स्वरूप ब्रह्म का ही कार्य होने के कारण स्वरुपतः सत् ही है; यह जगत भी सत् एवं ब्रह्म मात्र है—ब्रह्म से भिन्न और कुछ भी नहीं है। ब्रह्म से भिन्न दूसरी कोई वस्तु है—यह वाक्य जो कहते हैं उनके मोह अभी दूर नहीं हुए; वे निद्रित व्यक्ति के प्रलाप वाक्य की भाँति असंलग्न बातें कहते हैं। २३०

ब्रह्मैवेदं विश्वमित्येव वाणी
श्रौती ब्रतेऽथर्वनिष्ठा वरिष्ठा।
तस्मादेतद् ब्रह्म मात्रं हि विश्वं
नाधिष्ठानाद्रभिन्नताऽरोपितस्य ॥२३१॥

'यह विश्व ब्रह्म मात्र ही है' यह वाक्य अथर्ववेदोक्त मुण्डक उपनिषद में कही गयी है। यह श्रुतिवाक्य अतिमान्य है। अतः यह विश्व ब्रह्म मात्र ही है, क्योंकि अधिष्ठान से आरोपित वस्तु की पृथक सत्ता नहीं होती है।

रज्जु रूप अधिष्ठान में अज्ञान वश सर्प को आरोपित किया जाता है। रज्जु में सर्प आरोप के समय, पहले एवं बाद में रज्जु ही रहता है। भ्रमवश जो सर्प दिखाई देता है वह रज्जु से भिन्न कुछ भी नहीं है। इस प्रकार अज्ञानवश ब्रह्म में जगत भ्रम होने पर भी ब्रह्म ही है।

उक्त श्लोक से सम्बन्धित श्रुति इस प्रकार है—'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेनाधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥" भूः उः, २/२/११—"पूर्ण रूप से अवस्थित ब्रह्म ही है, पीछे ब्रह्म, दक्षिण एवं उत्तर में ब्रह्म, नीचे एवं ऊपर ब्रह्म ही व्याप्त है। यह जगत श्रेष्ठतम ब्रह्म ही है।"

सत्यं यदि स्याज्जगदेतदात्मनो—
ऽनंतत्वहानिर्निगमा प्रमाणता।
असत्यवादित्वमपीशितुः स्या—
नैतत्त्रयं साधु हितं महात्मनाम् ॥२३२

यह जगत यदि स्वरूपतः (जैसा दिखाई दे रहा है वैसा ही) सत्य होता (यदि इसका नित्य वर्तमान स्वतन्त्र सत्ता होता) तो फिर सत्यस्वरूप जगत का कभी भी नारा नहीं होता। और तब तो वेद मिथ्या प्रमाणित हो जाता (क्योंकि, वेद जगत को सत्यता स्वीकार नहीं करता)। और तो, और वेद प्रकाशक ईश्वर अथवा

भगवान श्री कृष्ण भी असत्यवादी होते। विचारशील महात्मा के लिए इन तीनों में से कोई भी स्वीकार्य नहीं है। २३२

वेद के प्रकाशक ईश्वर सत्यवादी हो अथवा वेद प्रमाणरूप में स्वीकृत हो; परन्तु वेद जो अद्वैत तत्व प्रकाशित करता है, ऐसा किसने कहा ? "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।" भू० उ०,३/१/१—'सर्वदा सम्मिलित एवं समान नाम धारी दो पक्षी एक ही वृक्ष को आश्रय कर रहते है।' इस मन्त्र में तो जीव एवं ईश्वर दोनों के पृथक अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। अन्यत्र 'वाचारम्मनं विकारनाम धेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।' छा: उ०, ६/१/४—आदि मन्त्र में मिट्टी को सत्य स्वीकार किया गया है। इस प्रकार के आपत्तियों के उत्तर में गीता में भगवान श्री कृष्ण के वाक्यों को प्रमाण रूप में उद्धृत कर जगत के मिथ्यात्व को प्रमाणित किया जा रहा है—

ईश्वरो वस्तुतत्वज्ञो न चाहं तेष्ववस्थितः।
न च मत्स्थानि भूतानीत्येवमेवं व्यचीक्लृपत् ॥२३३॥

वस्तु स्वरूप के ज्ञाता भगवान श्री कृष्ण ने कहा है 'मैं इन सब वस्तुओं में नहीं हूँ' और 'ये सब वस्तु मुझमें नहीं है' इस प्रकार कह कर उन्होंने पूर्वोक्त मत का (जगत के मिथ्यात्व) का समर्थन किया है। २३३

'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्वेंस्थितः ॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥'
मी० ९/४-५

मैं इन्द्रियों का अगोचर हूँ; मेरे द्वारा समस्त जगत परिव्याप्त है; चेतन—अचेतन सभी भूत मुझमें स्थित है; परन्तु मैं परिच्छेद रहित एवं संसर्ग शून्य होने के कारण इनके द्वारा सीमावद्ध नहीं हूँ। मेरा यथार्थ स्वरूप दर्शन करो। भूत सकल मुझमें अवस्थित नहीं हैं। मेरी आत्मा भूत समूह में अवस्थित न रह कर भी उन सबका धारक एवं उत्पादक हैं।"

'मैं' दो तरह का होता है, एक है 'पक्का मैं' और दूसरा 'कच्चा मैं'। "जो कुछ मैं देखता, सुनता या महसूस करता हूँ उसमें कुछ भी मेरा नहीं है, यहाँ तक कि यह शरीर भी मेरा नहीं है।" 'मैं नित्य मुक्त हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ।' —यह 'पक्का मैं' है। "यह मेरा मकान है", "यह मेरी पत्नी है", "यह मेरा शरीर है"— यह सब 'कच्चा मैं' है।

—श्री श्रीरामकृष्ण देव

खुदा का दरबार

—स्वामी विवेकानन्द

(यह कहानी रामकृष्णदेव कहते थे। स्वामीजी ने अपनी पुस्तक भक्ति रहस्य में इस कहानी को कुछ परिवर्तन के साथ उद्धत किया है।)

जलाल फकीर का मैदान। मैदान नहीं, लगता था अनन्त भूमि। जो भी उस मैदान से एक बार भी गुजरा था, वह उसके नाम मात्र से भयभीत हो जाता था। चारों तरफ जिधर नजर दौड़ाओ, बस विस्तृत मैदान ही मैदान। कहीं घर-बार, मनुष्य आदि का चिह्न भी नहीं। पंजाब से दिल्ली जाने हेतु सभी को इस मैदान से होकर गुजरना पड़ता था। दोपहर के समय जब सूर्य ठीक सर के ऊपर पहुँचता हैं, तब सारा मैदान मानो अग्निपिण्ड में परिणत हो जाता हो। गर्मी और प्यास के मारे पथिकों के प्राण पखेरू वहीं उड़ जाते।

उस मैदान के ठीक मध्य में जलाल साहब फकीर की छोटी कुटिया है। कब से फकीर साहब यहाँ आकर बस गये, कोई नहीं जानता। देश-देश में फकीर साहब की ख्याति फैली हुई थी। अशिक्षित लोग तो इतना तक कहते थे कि फकीर साहब की खुदा से बातचीत होती है। लोग कहते कि एक शेर फकीर साहब के दरगाह में पहरा देता है। और कितनी ही जनश्रुतियाँ थीं।

जो भी हो, फकीर साहब अत्यन्त भले मनुष्य थे। और उन्हीं के नाम पर उस मैदान को भी लोग जलाल फकीर का मैदान कहते थे। जिस समय की बात कह रहा हूँ, उससे तीस वर्ष पहले भी उस स्थान पर वैसा मैदान न था। वहाँ था एक सुन्दर नगर। कितने धनी गुणी व्यक्ति वहाँ रहते, कितने बाग बगीचे और कितनी बड़ी-बड़ी इमारतें थीं। अभी उसके अवशेष तक नहीं मिलते। मुसलमान बादशाहों के निरंतर आक्रमणों के फलस्वरूप वह सुनहरा नगर मरुभूमि में परिवर्त्तित हो गया।

दिल्ली जाने वाले पथ से कितने पथिक जाते है, कितने सौदागर जाते हैं और उनमें से बहुत जलाल फकीर के मैदान में ही भगवान् को प्यारे हो जाते हैं। हर वर्ष कितने लोग इस प्रकार मरते हैं, इसका अनुमान नहीं। लोगों के इस दुःख को देख फकीर साहब के मन में बड़ी पीड़ा और दया होती। परन्तु कोई उपाय वे खोज नहीं पाते।

बहुत सोचने के बाद उन्होंने सोचा कि मैदान के बीचोबीच सराय या मुसाफिर खाना बनवाना पड़ेगा। प्रत्येक सराय में कुआँ खुदवाना पड़ेगा। असहाय पथिकों के लिए भोजन का भी प्रबंध करना पड़ेगा। यदि यह सब हो जाए तो पथिकों का दुःख दूर होगा तथा अनेक लोग बेवजह मौत से बच जाएँगे। फकीर साहब ने बहुत सोच विचार कर यह निश्चय किया। परन्तु इसे करेगा कौन? प्रभूत धन चाहिए। फकीर साहब तो संन्यासी पुरुष हैं। इतने पैसों की व्यवस्था वे कैसे करेंगे?

जो ईश्वर प्राप्ति के लिए स्वजन-आत्मीय सभी का परित्याग कर दूर चले जाते हैं, वही फकीर होते हैं, वही संन्यासी हैं। विश्व वासियों के दुःख कष्टों को देख उनका मन रो पड़ता हैं। अपने कुटीर के सामने बैठ फकीर साहब रोज पथिकों के दुःख की बात सोचते थे, मुसाफिर-खाना के बारे में चिन्ता करते थे।

कुछ दिन पश्चात् एक दिन कुछ व्यक्ति दिल्ली से लौट रहे थे। उन्हीं के मुख से फकीर साहब ने सुना कि दिल्ली के बादशाह ने एक नये राज्य पर विजय पायी हैं और वहाँ से प्रचुर धनरत्न लेकर राजधानी लौट आये हैं। गरीब-दुखियों के बीच भी कुछ धन बादशाह दान कर रहे हैं।

यह समाचार पाकर फकीर ने सोचा कि यदि बादशाह चाहे तो यह काम आसानी से हो सकता है। और हजारों पथिकों का भी उपकार हो सकता है। यही सोचकर फकीर साहब एक दिन दिल्ली चले। पथिकों के संकट ने उनके मन को विचलित कर दिया था। इसलिए वे स्वयं बादशाह के पास रुपयों के लिए जा रहे थे।

फकीर अत्यन्त वृद्ध थे। वे ठीक से चल भी नहीं सकते थे। जाते-जाते शान्त होकर कहीं बैठ जाते थे। फिर कुछ देर के बाद चलते। इस प्रकार चलते-चलते अनेक दिनों बाद वे दिल्ली के दरवाजे पर आ खड़े हुए।

वस्तुतः रूप, रंग में नहीं, शरीर में नहीं, उम्र में नहीं। यथार्थ रूप, यथार्थ सौन्दर्य है पवित्रता में, प्रेम में। पवित्रता की अग्नि जिसके अन्तस् में जल रही है, उसका तेज उसके चेहरे पर फूट उठता हैं जिससे समस्त विश्व की आंखे चौधियाँ जाती हैं। पर के लिए जिसका हृदय समर्पित हो, दुःख को देख जिसकी आँखें भर आए, उसके नेत्रों की ओर देखते ही सबके शीश श्रद्धावश झुक जाते हैं।

वृद्ध फकीर के मुखमंडल पर भी एक ऐसी स्वर्गिक आभा छिटक रही थी जिसकी तुलना सांसारिक वस्तुओं से नहीं हो सकती। फकीर के तेजोमय स्वरूप को देख द्वार के प्रहरी भी द्वार छोड़ खड़े हो गये। निर्भीक होकर फकीर ने अन्दर प्रवेश किया। फकीर ने देखा कि इमारत के बाद इमारत खड़ी है। कितने बाग-बगीचे कितने फव्वारे। चारों तरफ सिपाही-सन्तरी, हाथी-घोड़े और क्या-क्या।

जाते-जाते फकीर साहब एकदम अन्तपुर के द्वार पर पहुंच गये। वहाँ प्रहरी ने सलाम किया और विनीत भाव से पूछा "क्या हुक्म है जनाब ?"

"मैं बाकशाह से मिलना चाहता हूँ" फकीर ने उत्तर दिया।

प्रहरी ने कहा, "आप लोग तो खुदा के आदमी हैं, आपलोगों का कहीं भी प्रवेश प्रतिबंधित नहीं। बादशाह अभी नमाज पढ़ रहे हैं। आप शीघ्र चले जाइए वह मस्जिद है।"

फकीर ने धीरे-धीरे प्रवेश किया और देखा बादशाह नमाज पढ़ रहे हैं। वे पीछे चुपचाप बैठकर प्रतीक्षा करने लगे।

थोड़ी देर बाद ही बादशाह की नमाज खत्म हो गयी। फिर वे हाथ जोड़कर अल्लाह से दुआ माँगने लगे कि खुदा मुझे और धन दो, और वैभव, सुख दो, राज्य दो। इसी तरह बादशाह काफी देर तक खुदा से नाना प्रकार की चीजें माँगते रहे।

तब फकीर धीरे;धीरे उठकर जाने लगे। बादशाह ने देखा कि एक फकीर आकर बैठे थे, और अब चले जा रहे हैं। बादशाह ने तब फकीर को इशारे से प्रतीक्षा करने को कहा। प्रार्थना समाप्त होने पर बादशाह ने पूछा, "फकीर साहब, आप क्यों आए है, और क्यों बिना कुछ बोले चले जा रहे हैं ?

फकीर ने कहा, "मैं जहाँ रहता हूँ वहाँ मनुष्यों को बड़ा कष्ट हैं। उन्हीं की सहायता के लिए रुपये माँगने बादशाह के पास आया था।"

बादशाह ने पूछा, "फिर आप बिना कुछ माँगे ही क्यों चले जा रहे थे ?"

फकीर —"मैंने देखा आप भी एक भिखारी हैं। नमाज के बाद आप भी खुदा से धन-राज्य माँग रहे थे। आप भी तो कंगाल हैं। यदि मुझे माँगना हैं तो भिखारी के पास मांगने से क्या लाभ ? इसलिए सोचा आपसे धन न चाहूँगा। अब यदि माँगना ही है तो खुदा के दरबार में ही प्रार्थना करूँगा।

इतना कहकर फकीर ने प्रस्थान किया। फकीर की बात सुनकर बादशाह भी अत्यन्त लज्जित और चकित हुए।

फकीर साहब ने फिर चलना आरंभ किया। बहुत दिन बाद वे अपने घर लौट आये। उसके बाद वे रात-दिन भगवान से प्रार्थना करने लगे कि हे खुदा तुम दुनिया के मालिक हो, संसार के मनुष्यों के दुःख को यदि तुम न दूर करोगे तब कौन करेगा? हर वर्ष कितने लोग इस मैदान में पानी-भोजन के अभाव में मारे जाते हैं। यह सब मैं सहन नहीं कर सकता। तुम ही कुछ व्यवस्था करो।

धीरे-धीरे फकीर की इच्छा की बात, दिल्ली-यात्रा की बात, बादशाह से धन न लेने की बात, चारों ओर फैल गयी। धनी सौदागरों का एक समूह जलाल फकीर के मैदान से गुजर रहा था। उस मैदान से जो भी गुजरता, वह फकीर साहब के दरगाह में जाकर उनका आशीर्वाद लेता। सौदागरों ने फकीर साहब की इच्छा के बारे में पहले ही सुना था। वे फकीर साहब के पास बोले, "पीर साहब, सुना है पथिकों के लिए आप मैदान के बीच बीच में सराय कुआँ आदि बनवाना चाहते हैं यदि आज्ञा हो तो हम सब सहर्ष सब व्यवस्था करने को तैयार है। आप धन के लिए चिन्ता न करें। आप जितना कहेंगे उतना खर्च हम सहर्ष वहन करेंगे।"

अत्यन्त खुश होकर फकीर साहब राजी हो गये। कुछ दिन के अंदर ही जलाल फकीर के मैदान में अनेक सराय इत्यादि बन कर तैयार हो गये। प्रत्येक सराय में कुँआ खोदा गया। गरीब पथिकों के लिए भोजन की भी व्यवस्था की गयी। उस दिन के बाद कोई भी जलाल फकीर के मैदान में भोजन या आश्रय के अभाव में नहीं मरा।

फकीर के मन में तब कितना आनन्द हुआ। फकीर ने सोचा कि खुदा की दया के फलस्वरूप ही यह सम्भव हो सका। परोपकारी व्यक्ति के मन में जो इच्छा होती है भगवान उसे पूरा करते हैं।

×××

किसी घर के छप्पर में एक छोटी सी दरार है, उसमें से घर में प्रकाश आता है। उस घर में रहनेवाले को उतना ही प्रकाश मिलता है। जिसके छप्पर में बहुत सी दरारें हैं उसे और भी अधिक प्रकाश मिलता है। फिर खिड़कियाँ और दरवाजे खोल देने पर और भी प्रकाश मिलता है। परन्तु जो मैदान में खड़ा है उसे सब ओर से प्रकाश ही प्रकाश मिलता है। इसी प्रकार, ईश्वर भी मनुष्य की मानसिक अवस्था के अनुसार उसके सम्मुख अपना स्वरूप प्रकाशित करता है।

—श्री श्रीरामकृष्णदेव

बैद्यनाथ च्यवनप्राश

अब पोलीजार में उपलब्ध

शक्ति

कफ, खांसी नाशक

यौवन

दिमागी ताजगी

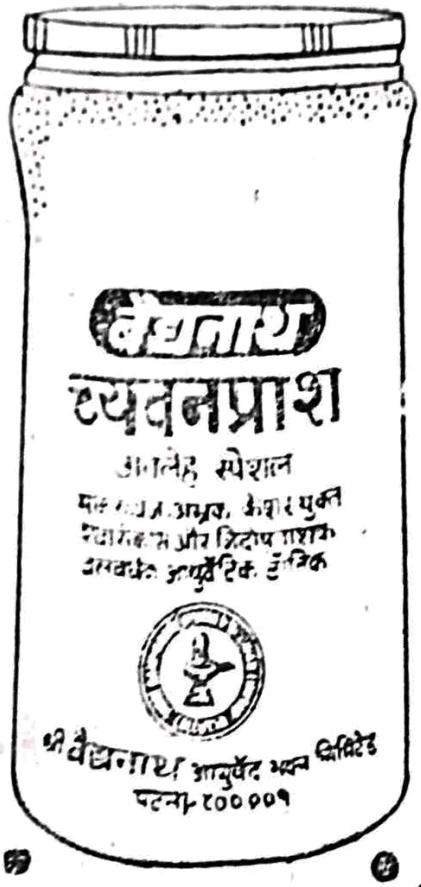

दिमाग

बलवर्द्धक

आदर्श आयुर्वेदिक पारिवारिक टानिक

कहीं आपके डिब्बे में "मोपेड" तो नहीं ?

- प्रत्येक एक किलो स्पेशल और साधारण एवं ५०० ग्राम - स्पेशल च्यवनप्राश के डिब्बे में इनामी कूपन प्राप्त कर "मोपेड" एवं ३०५ अन्य पुरस्कार प्राप्त करने का सुनहरा अवसर ।

बैद्यनाथ ७०० से अधिक दवाएं पांच आधुनिक कारखानों में तैयार कर

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड

बैद्यनाथ भवन रोड, पटना-१

डा ; पंजीयित संख्या – सी. एच. पी. – १४–८३

हमारे कुछ महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

- श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग (तीन खण्डों में)
- श्रीरामकृष्णलीलामृत
- श्रीरामकृष्णवचनामृत (तीन भागों में)
- श्रीरामकृष्ण-भक्तमालिका (दो भागों में)
- भगवान रामकृष्ण : धर्म तथा संघ
- माँ सारदा
- आनन्दधाम की ओर
- भगवान श्रीकृष्ण और भगवद्गीता
- आचार्य शंकर
- विवेकानन्दजी के संग में
- गीतातत्त्व
- महापुरुषों की जीवनगाथाएँ

ामी विवेकानन्दकृत कुछ ग्रन्थ

- ज्ञानयोग
- प्रेमयोग
- देववाणी
- धर्मविज्ञान
- वेदान्त
- मेरे गुरुदेव
- विविध प्रसंग
- हिन्दू धर्म के पक्ष में
- वर्तमान भारत
- शक्तिदायी विचार
- राजयोग
- सरल राजयोग
- हिन्दू धर्म
- धर्मतत्त्व
- शिकागो वक्तृता
- भारतीय व्याख्यान
- भारतीय नारी
- विवेकानन्दजी के संग में
- मेरी समरनीति
- विवेकानन्द–राष्ट्र को आह्वान
- भक्तियोग
- कर्मयोग
- आत्मतत्त्व
- धर्मरहस्य
- कवितावली
- चिन्तनीय बातें
- हमारा भारत
- पत्रावली
- मेरा जीवन तथा ध्येय

विस्तृत सूचीपत्र के लिए लिखिए :

रामकृष्ण मठ

धन्तोली, नागपुर– ४४० ०१२

श्रीमती गगा देवी, जयप्रकाश नगर, छपरा (बिहार) द्वारा प्रकाशित एवं
श्रीकात लाभ द्वारा जनता प्रेस, नया टोला, पटना – ४ में मुद्रित।